UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182230

UNIVERSAL
LIBRARY

भूमि की अनुभूति

[कवितासंग्रह]

समालोचनार्थ

रचयिता

जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द

प्रकाशक

साहित्य-प्रकाशन-मंदिर,

हाईकोर्ट रोड, ग्वालियर

प्रकाशक
साहित्य-प्रकाशन-मन्दिर,
हाईकोर्ट रोड, ग्वालियर

प्रथम संस्करण : अक्टूबर १९५२
मूल्य ढाई रुपया

मुद्रक :
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस,
क्वीन्स रोड, दिल्ली

प्रारम्भ की पंक्तियाँ

इन थोड़ी-सी पंक्तियों में मुझे कोई लम्बी भूमिका नहीं बाँधनी है। इनका अभिप्राय केवल इतना-सा है कि पाठकों को मेरी उस मनःस्थिति का कुछ परिचय मिल जाय, जो मेरी इस संग्रह में संगृहीत कविताओं की रचना के पीछे है।

अपने युग में कवयित्री मीरा उसी प्रकार एक विद्रोहिणी थी, जिस प्रकार बद्धमूल रूढ़ियों की सीमा के बाहर क़दम रखने वाला कोई भी साधक हो सकता है। अपने आसपास के अवरुद्ध वातावरण में स्वच्छंद साँस लेकर उसने अपने समकालीन वैभवशालियों, सत्ताधारियों और समाज के नेताओं की दृष्टि में इतना बड़ा अपराध किया था कि वह संभवतः मृत्युदंड की पात्र समझी जाने लगी थी। पर, उस युग की उस विद्रोहिणी को न केवल आज के युग में संसार की एक श्रेष्ठ कवियित्री ही माना जाने लगा है, बल्कि यह भी कहा जाने लगा है कि संभवतः उस युग के उदार काव्यमर्मज्ञ भी अपने अन्तर्तम में, भले ही छिपे-छिपे ही सही, उसकी कला की उपासना किया करते थे।

मीरा अपने साथ, अपने आराध्य के प्रतीक के रूप में, काले पत्थर की बनी हुई शालग्राम की बटिया रखती थी और उसकी काव्यप्रेरणा का, जो तन्मय भक्ति ही का दूसरा नाम था, उपादान सम्भवतः उसीमें केन्द्रित था। शालग्राम की उस बटिया को रोष या उपेक्षा का पात्र समझने वाले कुछ लोग उसे भले ही वैसा समझते रहे हों, पर, मीरा ने उसकी आराधना के फल-स्वरूप जिस साहित्य का सृजन किया था, उसकी सुन्दरता से इनकार करने-का साहस कभी कोई न कर सका, संभवतः मीरा का कोई कट्टर विरोधी साहित्यप्रेमी भी नहीं।

आज के युग के एक विनम्र और अकिंचन कवि के रूप में मैं भी अपने कुछ उपास्य, आराध्य और आदर्श रखता हूँ, जिन्हें मैं छिपाना नहीं चाहता। जब तक मैं उन्हें हृदय से प्यार करता हूँ, तब तक दुनिया की कोई ताक़त मुझे ऐसा करने से नहीं रोक सकती। यदि कुछ लोगों की दृष्टि में ऐसा करना कोई अपराध हो, तो अपने इस अपराध का कुछ दंड मैं भुगत चुका हूँ और आगे भी भुगतने को तैयार हूँ।

जिस जनदेवता की भक्ति से प्रेरित होकर और जिसकी कल्याण-कामना-से मैंने यह कविताएँ लिखी है, वह तो, मुझे आशा है कि, इस अकिंचन नैवेद्य-को स्वीकार करेगा ही, किन्तु, वे पाठक भी, जिनकी जनदेवता पर आस्था नहीं है, जनदेवता को प्यार करें या न करें, उसके प्रति, अपनी समस्त अकिंचनता के बावजूद, मेरी जो विनम्र आस्था, तन्मयता, आकर्षण और तादात्म्य है, उसके प्रति, वे, मेरा विचार है कि, अन्याय न करेंगे। वे यह न भूलेंगे कि स्वाभाविक कविता का सृजन किसी के प्रति, भले ही वह व्यष्टि हो या समष्टि, अकृत्रिम स्नेह और निकटस्थ तादात्म्य ही से सम्भव होता है और स्वाभाविक कविता-को पसन्द न करना किसी भी काव्यप्रेमी के बस की बात नहीं है। यह तादा-त्म्य अपने आराध्य पर अपना जीवन निछावर करने ही से प्राप्त होता है। मैं नहीं कह सकता कि अपने जीवन के कुछ सर्वोत्तम वर्ष अपने आराध्य के हित में लगाने में मैं सफल हो सका हूँ या नहीं, पर, मेरा मन कहता है कि, मैंने उस दिशा में पदक्षेप का कुछ अकिंचन और विनम्र प्रयत्न अवश्य किया था।

शालग्राम की बटिया को प्यार करने वाली मीरा के आराध्य भले ही सबकी उतनी ही तन्मय भक्ति न पा सके हों, किन्तु, उसकी कला समस्त

कविताप्रेमियों का हार्दिक स्नेह पा सकी थी। उसी प्रकार, मैं भी अपने समस्त पाठकों से नम्रतापूर्वक यह आशा करना चाहता हूँ कि भले ही उनमें से कुछ मेरे आराध्यों को प्यार न करें, पर, वे मेरी, उनकी आराधना से प्रसूत, इन कविताओं को अपनी हार्दिक सहानुभूति से वंचित न होने देंगे। उनमें से कुछ यह भले ही सोचें कि मैंने काव्यरचना के लिए नए उपकरण चुनकर ग़लती की, पर, केवल इसी कारण, वे इन कविताओं के रसास्वादन के सम्बन्ध में अपना मानस-द्वार अवरुद्ध न करें।

इस कविता-संग्रह में संचित मेरी विनम्र साहित्यसाधना के आराध्य स्वर्ग-में रहने वाले या आकाश में उड़ने वाले देव या वैभव के उच्च शिखर पर आसीन नायक नहीं, बल्कि, इसी भूमि पर रहने वाले और श्रम करने वाले सामान्य मानव हैं। अपने स्वतन्त्र रूप में भी और उक्त निम्नस्थ मानवता के प्रतीक के रूप मे भी, भूमि भी मेरी आराध्य है। मेरी यह 'भूमि की अनुभूति' केवल भूमि की अनुभूति नहीं, बल्कि, मेरी विनम्र संमति मे, मानवता की अनुभूति भी है और दलित एवं उपेक्षित मानवता के प्रति मेरी सहानुभूति का अकिंचन व्यक्तीकरण भी। मेरा हृदय कहता है कि यह केवल बौद्धिक सहानु-भूति नहीं रही, इसमे किंचित् सक्रियता का भी सहयोग रहा है।

भूमि का वैभव मैंने रजकणों को माना है, जिस प्रकार मानवता का वैभव उन सामान्य मानवों को,जो केवल इस लिए छोटे माने जाते हैं कि उन्हें अभावों-से संघर्ष करना पड़ता है।

मेरी आस्था है कि अब युग बदल गया है और अब पुराने ज़मानों के घिसे-घिसाए काव्योपकरणों की सीमा में कविता को क़ैद नहीं रखा जा सकता।

भक्तों ने भगवान् की, चारणों ने सत्ताधारियों की, चाटुकारों ने वैभव-शालियों की, प्रेमियों ने प्रेमिकाओं की, साधकों ने अन्तर्जगत् के रहस्य की तथा विलासियों ने नारी के बाह्य सौंदर्य की उपासना बहुत की। अब समय आ गया है कि नए युग का कवि जनदेवता की, मानवता की भी कुछ उपासना करे, उसके लघु, पीड़ित, दलित, शोषित तथा उपेक्षित अंग की भी।

यदि पाठक साहानुभूतिपूर्ण हृदय से मेरे इस संग्रह की कविताओं को पढ़ने की कृपा करेंगे, तो, मुझे आशा है कि, वे यह अनुभव किए बिना नहीं रहेंगे कि नए उपकरणों को लेकर नई दृष्टि से भी कविताओं की रचना की

जा सकती है और उनमें थोड़ा-बहुत रस और किंचित् प्राण भी ढाला जा सकता है।

यदि मैं नई दिशा में किए गए अपने इस विनम्र प्रयत्न में पाठकों की उदार सहानुभूति प्राप्त कर सका, तो मेरी ये कविताएँ सार्थक होंगी।

मेरे पिछले तीन कविता-संग्रहों को पाठकों ने अपनाया है। मुझे आशा है कि मेरे इस चौथे कविता-संग्रह को भी वे उदारता तथा कृपा पूर्वक अपनाएँगे।

इसमें मेरी अगस्त १९४९ से लेकर जून १९५२ तक की लगभग तीन वर्षों की कविताएँ संगृहीत हैं और इनका संग्रह काल क्रम से किया गया है। प्रत्येक कविता के अन्त में उसका रचनाकाल दे दिया गया है।

ग्वालियर,
२-१०-५२

जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द

स्वर्गीय श्रमी कवि
श्री सीताराम 'साधक' की
स्मृति में,
जो खिलने के
पहले ही मुरझा गए !

श्री मिलिन्द के जीवन पर एक दृष्टि

जन्मस्थान—श्री जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द का जन्म मरार (ग्वालियर, मध्यभारत) में हुआ।

जन्मतिथि—कार्तिकी पूर्णिमा, संवत १९६४ वि०।

वर्तमान वासस्थान—लश्कर (ग्वालियर, मध्यभारत)

शिक्षा—मुरार हाई स्कूल में प्रारम्भिक, तिलक राष्ट्रीय विद्यालय, अकोला (मध्यप्रदेश) में मैट्रिक तक, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, पूना में मैट्रिक्युलेशन-परीक्षा, उसके बाद साहित्य और समाजविज्ञान की उच्च शिक्षा काशी-विद्यापीठ, बनारस के राष्ट्रीयका लेज में। हिन्दी और अंगरेज़ी के अतिरिक्त संस्कृत, उर्दू, मराठी, बँगला और गुजराती भाषा का भी ज्ञान है।

पुस्तकें—आपकी रचनाओं में 'प्रताप-प्रतिज्ञा', 'आत्मबलिदान' तथा 'गौतम नंद' नामक तीन नाटक, 'जीवनसंगीत', 'नवयुग के गान', 'बलिपथ के गीत' तथा 'धरती की अनभूति' नामक चार कवितासंग्रह और 'विचारविहार' नामक एक निबंधसंग्रह, इस प्रकार अब तक आठ ग्रंथ, प्रकाशित हो चुके हैं। एक ऐतिहासिक तथा एक सामाजिक नाटक, एक कवितासंग्रह और एक निबंधसंग्रह तैयार हो रहा है। मध्यभारतशासन के शिक्षाविभाग द्वारा नियुक्त साहित्यमनीषियों की समिति द्वारा आपकी पुस्तक 'बलिपथ के गीत' को १०००) रुपयों के प्रथम पुरस्कार

के योग्य ठहराया गया। उत्तर प्रदेश के शिक्षाविभाग ने भी, विद्वानों की समिति के निर्णयानुसार, आपके 'बलिपथ के गीत' और 'समर्पण' पर ८००) रुपयों का पुरस्कार दिया।

कार्य—विश्वभारती, शान्तिनिकेतन (बंगाल) तथा महिलाआश्रम, वर्धा (मध्यप्रदेश) में अध्यापक तथा प्रयाग और अजमेर मे साहित्यसेवी तथा राष्ट्र-कर्मी के रूप में रहे। पंजाब की मासिकपत्रिका 'भारती' तथा ग्वालियर के अर्ध-साप्ताहिक पत्र 'जोवन' के सम्पादक रहे। ग्वालियर स्टेट काँग्रेस के प्रधान-मंत्री तथा मध्यभारत प्रान्तीय काँग्रेस की कार्यसमिति के सदस्य रहे। सन् १९४२ के आन्दोलन में तथा बाद मे भी जेलों में रहे। काँग्रेस द्वारा शासन ग्रहण किए जाने पर, मिनिस्टर पद स्वीकार करने का अनुरोध किए जाने पर, उसे अस्वीकार कर चुके है। मध्यभारत समाजवादी पार्टी के सर्वसम्मति से दो बार लगातार प्रान्तीय प्रमुख तथा प्रान्तीय पार्लमेन्टरी कमेटी के अध्यक्ष चुने गये थे। बृहत्तर ग्वालियर साहित्यकार संघ, पत्रकार संघ, नव संस्कृति-संघ आदि संस्थाओं के अध्यक्ष रहे थे। शिक्षाविभाग द्वारा मध्यभारत कला-परिषद् की विधायक कार्यकारिणी समिति के सदस्य नियुक्त किए गए है।

पिछले दिनों अस्वास्थ्य, राजनीति, सार्वजनिक कार्यों तथा अन्य अधिक व्यस्तताओं के कारण साहित्यनिर्माण मे पर्याप्त समय न लगा सके। किन्तु, अब कुछ वर्षो से पुनः साहित्यक्षेत्र ही मे अधिकतर कार्य करने लगे है।

आजकल अपना अधिकांश समय स्वाध्याय, ग्रन्थलेखन तथा स्वतन्त्र पत्रकार के कार्य मे लगा रहे है। देश के अनेक प्रतिष्ठित हिन्दी, अंगरेजी, गुजराती, बँगला आदि भाषाओं के दैनिक पत्रों के प्रतिनिधि है। अनेक ग्रन्थों के निर्माण का कार्यक्रम उनके सामने है। आजकल नियमित रूप से साहित्यनिर्माण कर रहे है। उनकी अनेक नई पुस्तकें निकट भविष्य मे प्रकाशित होने वाली है।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
(३)	१२	कवियित्री	कवयित्री
(४)	१७	यह	ये
(५)	२६	साहानुभूति	सहानुभूति
२	१३	से मूपअनुभूतिरि	अनुभूति से परि
२०	२	बचजिस	बच जिस
,,	१२	धुम	मधु
२२	४	चारणदल	चारणदल के
२३	१६	आलिगन	आलिंगन
२४	१६	सिधु	सिंधु
२७	७	यौवन का	यौवन को
२६	५	हिसा	हिंसा
३३	२६	चितन	चिंतन
३७	१४	हम शोषित	हम सब शोषित
४०	१	आषास्ढय	आषाढस्य
४१	१६	जिनके	जिसके
५७	२३	ह	हैं
५८	१६	भूमि	भूमि-
७०	११	चितन	चिंतन
७१	६	ऋतुकम	ऋतुक्रम
७४	७	ह	हैं
७६	४	सिह	सिंह
,,	६	जिदा	जिंदा
८३	७	हैं !"	है !"
८६	२	प्रताप	प्रपात
६०	२४	पतनिवभव	पतनविभव
६१	६	मे	म
६२	२	चितन	चिंतन
६६	१३	उन्ह	उन्हे

कविता-सूची

क्रम	कविता का शीर्षक	पृष्ठ
१	भूमि की अनुभूति	१
२	ठूँठ और अंकुर	५
३	उठो विश्व के तरुण !	१०
४	पृथ्वीपुत्र से	१३
५	क्रान्तिकारी	१६
६	पृथ्वी की पुकार	१८
७	परिवर्तन	२२
८	नवयुग और नारी	२६
९	नव संस्कृति	२९
१०	भूमिश्रमिक की पत्नी	३४
११	वसंतागम पर	३८
१२	आषाढस्य प्रथमदिवसे	४०
१३	किरण और कुटीर	४६
१४	वेदना और विद्रोह	५१

१५	मौन और संगीत	५४
१६	प्रगति और जीवन	५६
१७	धरती का गीत	६०
१८	लघुता का विद्रोह	६४
१९	महामानव : अंतर् और बाह्य	६७
२०	अभिनव का आवाहन	७०
२१	रह गई चढ़ी बरात	७३
२२	अंतर्वसंत	७८
२३	प्रथम पल्लव	८०
२४	रगिस्तान	८३
२५	रजकण	८६
२६	मुक्तिपथ	९२
२७	श्रमजीवी की मर्मव्यथा	९५
२८	दुर्भिक्ष	९८

भूमि की अनुभूति : १

कल्पना के पंख मेरे
हैं थके-से आज;
जानते हो,
क्यों रुके-से आज ?

मैं युगों से था बनाता आ रहा
शून्य में, ऊपर,
सुनहले स्वर्ग वारम्वार;
भावना के रंग गहरे
दिव्य सपनों में
भरा करता सदा मैं;
क्षितिजचुम्बी व्योम में था
उड़ा करता चपल, अविरत,
पंख अपने मुक्तगति, सुन्दर
पसार-पसार !

आज सहसा खोल स्मृति-पट
भूमि की अनुभूति ने है
कर दिया विह्वल मुझे झकझोर;
मर्म आहत कर
हिला डाले निमिष में प्राण !
हृदय सहसा आज भाव-विभोर !
एक नव-अनुभव
दिखाता एक नया प्रकाश !
आज मैं समझा कि—ऊपर का नहीं नभ,
भूमि नीचे की
मनुज की कला का है साध्य !
भूमि की से मूक अनुभूतिरि-व्याप्त
हृदय के इस लोक का प्रत्येक कण है आज !

मानवों का या खगों का,
व्योम में किसका बसेरा ?
कौन पाता शून्य में है
वह चरम आधार,
मुक्त जिसमें पतन-भय से
हो हृदय सोल्लास ?
किया व्योमविहार मैंने;
युगों तक पाया वहाँ दिनरात
शून्य और विराट्,
केवल शून्य और विराट् !
रंग कुछ अस्थिर,
बिगड़ते और बनते,
एक-ही-से,
अधिकतर जिनमें, सचाई अब बताऊँ,
मात्र मेरे सृजन,
मेरे कल्पनाविस्तार !

उच्चता की, शून्यता की
एकता से थक चुका मैं;
चाहता हूँ अब विविधता।
स्वर्ग ही, सुख ही, निरन्तर दिव्यता ही
अब नहीं!
उर कर उठा विद्रोह!
जागी मनुजता की तीव्र इसमें प्यास।

चलो,
नीचे है यही वह भूमि,
निम्नतम, दलिता, उपेक्षित
क्षुद्र कहलाकर,
व्योम के सौन्दर्यरंगों का रचयिता
है अकिंचन एक जिसकी सृष्टि!
स्वर्ग का स्रष्टा
हुआ है गौरवान्वित,
क्योंकि वह है मर्त्य!
[कल्पना की तूलिका से व्योम में
चित्र जो गहरे रँगों का था बनाया,
स्वर्ग कहलाता रहा वह;
और उसका रचयिता कितने युगों तक
था भुलाए ही रहा आधार अपना,
भूमि अपनी;
विश्वजननी, चिर-उपेक्षित!
फूल अपने मूल ही को भूल बैठा!]

आज संस्कृति, कला, दर्शन आदि सब
हैं अचानक चाहते बनना परिष्कृत,
मूल-ग्राही, सूक्ष्मदर्शी,
मर्म के स्पर्शी, गहनतर,

सत्य सहचर, सहज,
दृढ़-आधार-अन्वेषक, विवेकी।
आज सबको हो चुकी अनुभूति है यह—
मनुज के सुख-दुख,
पतन-उत्थान, शक्ति-अशक्ति,
द्वन्द्व रखते जिसे जीवनपूर्ण,
भूमि वह है स्वर्ग से, नभ से महत्तर!

आज मैं भी इस महत्तम सत्य की
ज्योति से,
अनुभूति से अभिभूत हूँ।
भावना मेरी सकल हार्दिक, सरल
फैल जाना चाहती है भूमि पर।
कल्पना मेरी इसीके उपकरण
ग्रहण कर
नवसृजन करना चाहती।
मनुज का मनुजत्व,
भू की विविधता,
हास-रोदन,
सफल, असफल साधना,
चिरन्तन संघर्ष
आज मेरा मन लुभा बैठे यहीं!
मैं विनत,
मैं रजःकणों में लीन हूँ;
अब न उड़ना चाहता मैं व्योम में।

कल्पना के पंख मेरे
हैं थके-से आज;
जानते हो,
क्यों रुके-से आज?

१६-१०-४३

ठूँठ और अंकुर : १

तुम, तने की छाँह में बैठे,
बटोही,
मत्त हो अधिकार के अभिमान में।
वृक्ष तो अब यह तुम्हारा
हो चुका है जीर्ण-जर्जर।
डालियाँ सूखीं,
सभी पत्ते झड़े।
पर, पुरातनवाद के तुम अन्ध पोषक।
सोचते हो तुम
कि अब भी प्राप्त इसको
एक पर्वत-सा बड़ा आकार है।
है तना केवल,
मगर, कितना बृहत्,
दूर तक है छाँह इसकी फैलकर
दे रही उनको चुनौती,

जो इसे
कह रहे हैं ठूँठ निर्बल।
पर, ज़रा तुम दृष्टि डालो
मूल पर इसके,
करो अनुभव, पथिक,
हो गया वह खोखला कब का;
उसे
कर चुके कृमि नष्ट विषम विकार के।
तुम रहे आसीन ऊपर
और अन्दर कट गई
रस की शिरा प्रत्येक उसकी।
इस महातरु का गया युग।
अब न वापस आ सकेगा वह कभी।
तुम विभव के भक्त इतने!
ठूंठ भी प्रिय है तुम्हें,
यदि
प्राप्त हो विस्तार उसको,
हो बड़ा आकार उसका।
जीर्ण अब है यह महत्ता।
महत्ता का मोह तुमको
नाश के मुख का
बना देगा किसी दिन
ग्रास, पन्थी!
तुम न मानोगे किसी की बात
तब तक,
एक झोंका जब पवन का
आ किसी दिन
एक क्षण में
इस महातरु के तने को,
इस महत्तम ठूँठ को

देगा गिरा।
जीर्ण महिमा के तले तुम
कुचल जाओगे निमिष में।
नाश का वह क्षण
नहीं अब दूर है।
वह न जब तक आय,
तब तक और फूलो
जीर्ण तरु की छाँह पर,
पथ भूल अपना!
और कुछ दिन तुम करो उपहास उनका,
जो नए तरु का नया अंकुर उगाते।

नम्र मेरी साधना है।
मैं बना हूँ एक साथी,
नए युग के साधकों का,
धैर्य जिनका दीप-सा
ज्योतित निरंतर;
काँपता है, पर, न बुझता,
विघ्न-बाधा के पवन से
जूझता है।

आह, साधनहीनता
कितनी भयंकर!
किन्तु, है उत्साह कैसा!
कुछ नहीं है पास इनके;
किन्तु, अविरत सींचते हैं
स्वेद ही से, रक्त ही से,
शक्ति के, सर्वस्व के सारे कणों से
उस नए तरु को
कि जिसका

रूप अंकुर का अभी है !
धूप को, तूफ़ान को,
कठिनाइयों को
सहन करते जा रहे है ये स्वयं ही
और अंकुर को बचाते जा रहे है
उन सभी के हृदयहीन प्रहार से ।

छाँह जब यह दे सकेगा
दूसरों को,
आज के इन साधकों का
हो चुकेगा शेष जीवन ।
ये न होंगे विश्व में, पर,
वृक्ष सदियों तक रहेगा ।
यह नहीं रुचिकर इन्हें है
कि ये मोहावृत बने
जीर्ण तरु की महत्ता के
शेष दिवसों से चिपटकर
काट दें सुख-छाँह में क्षण
शान्त जीवन के निरे निज
और जग को छोड़ जाएँ
तप्त, पीड़ित
और आशाहीन ।
चाहते हैं ये कि इनके
धूप में श्रम कठिन करते
दिवस बीतें, किन्तु, ये
सर्वस्व देकर सींच जाएँ
नया अंकुर
नए युग के वृक्ष का,
नहीं जग के हृदय की जिससे बुझे
धैर्य-ज्योति,

अखंड उसका
रहे आशासूत्र ।

तुम महत्तम जीर्ण तरु की
दीर्घ छाया के निवासी
हो बटोही;
मैं अकिंचन एक सार्थी,
उन नए आशान्वितों का,
धूप में श्रम कर रहे हैं
सींचने को
एक लघुतम जो नया अंकुर निराला ।
साथ क्या मेरा-तुम्हारा !
तुम मुझे कह लो भले ही एक पागल !

२३-१०-४९

उठो विश्व के तरुण ! : ३

सुधापान की कथा
सुनानेवाले पूर्वज
एक-एक कर पीले
पत्तों-से जग-तरु से
क्रमशः झड़-झड़कर
सारे स्मृतिशेष हो गए।
सोमपान का भी
विस्मृत इतिहास हो चुका।

रक्तपान, मदपान
चाहते, मानो, बनना
आज हमारे जग की
सर्वग्रासी संस्कृति।
गत युग का-सा नहीं
आज इनका आयोजन;

अब तो इनका एक
नया है रूप भयंकर।

मानव मानव का
पी रहा आज है शोणित
भीषण शोषण के
अदृष्ट दाँतों, जीभों से!
एक बूँद भी नहीं
दिखाई देती बाहर;
भीतर-भीतर एक घुट,
कंकाल दूसरा!

और पुष्टि से अपनी,
धन, सत्ता से होकर
मधप से भी अधिक मत्त,
ये शोषक मानव
मानवता के क्षतविक्षत
वक्षःस्थल पर हैं
किया चाहते तांडव
करके रौरव निर्मित!]

कौन बचावे जग को
इनसे, कौन करे अब
मानवता का त्राण,
तुम्हारे सिवा, वीरवर?
उठो, विश्व के तरुण,
कराओ मानवता को
समता के संजीवन-
रस का पान तृप्तिकर।

तोड़ो शोषणपाश,
करो संघर्ष प्रबलतम
सत्तामद से; रक्तपान,
मदपान करो यह
नष्ट विश्व से ! करो प्राप्त
तुम शीघ्र सफलता !
करना होगा लज्जा का
विषपान अन्यथा !

३०-१०-४६

पृथ्वीपुत्र से : ४

अपना छोटा-सा विश्व बसाकर बैठे
जो लघु हरियाली, अन्न, फूल, फल वाला,
जो हल की भूले मूठ, कुदाली का फल,
अब ढूँढ़ रहे हैं छकने को मधुशाला,

उनका तुम छोड़ो साथ, सामने देखो,
विस्तृत जग है इस छोटे जग के आगे;
अब तक उसमें कितने विशाल बंजर हैं,
कुश-कंटकमय भू. मरु सुनसान, अभागे !

उन सबको है हरिताभ सफलता देना,
उन सबमें है चहुँ-ओर प्रसून खिलाना;
प्रत्येक अंश पर उस अनन्त ऊसर के
बालें अनाज की हरी-भरी लहराना !

तुम अथक सृजन की और अखंडित श्रम की,
साधनानिरत मानवता की जय बोलो;
आगे, आगे, बस आगे बढ़ते जाओ,
ऊसर के उर की गाँठें हल से खोलो !

देखो, है कितनी दूर-दूर तक फैली
यह भू युग-युग से वंचित भूखी-प्यासी !
तुम अपने श्रम का स्वेद लगाओ इसमें,
अब दूर करो इसकी यह गहन उदासी ।

मानव-श्रम यदि हो ताल ठोककर जाग्रत,
संगठित, सुयोजित हो डटकर जुट जावे,
नहरें खोदे, हल और कुदाल चलावे,
उत्तम अनाज के बीज डालने लावे,

तो यह भूखी-प्यासी विराट धरती भी,
हो स्वयं तृप्त, जग को चिरतृप्त बनावे;
हो नामशेष भीषण अभाव का रौरव,
जगजीवन में स्वर्गिक नवयौवन आवे !

तुम एक बिन्दु मानवता के सागर के,
सबसे पहले तुम अपना क़दम बढ़ाओ;
आह्वान बनेगा वही अनंत कणों को,
सेवा की सेना इसी प्रकार बनाओ !

स्वीकार चुनौती करो विपुल बंजर की,
भूखी-प्यासी मानवता के त्राता बन,
हे पृथ्वीपुत्र, नया युग जग में लाओ,
अवतरित करो वसुधा पर नंदनकानन !

मानव के मांसल बाहु, हृदय का साहस,
कब विघ्न और बाधाओं से हैं हारे ?
मानव की अविरत गति इतिहास जगत् का,
मानव-श्रम के फल उपादान हैं सारे !

शोषण के तोड़ो पाश, मुक्त हो जाओ,
फिर आगे बढ़ वसुधा को मुक्त बनाओ,
मानवता के सारे अभाव के बंधन
कर छिन्न-भिन्न, जग एक नवीन बसाओ !

थकने, रुकने वालों की ममता छोड़ो,
'श्रम, और अधिक श्रम' का तुम अलख जगाओ;
'गति, और अधिक गति' का संकल्प लिए तुम
पथ के प्रतिपद पर स्नेह-सुरभि फैलाओ !

१३-११-४६

क्रांतिकारी : ५

देख मस्तक क्रांतिकारी का यही तुम सोचते हो—
है चुनौती यह हिमालय के शिखर को चिरसमुन्नत !
शक्ति-वैभव-कोप-सत्ता-दर्प के आगे नहीं जो
एक क्षण को भी झुका, यह स्वाभिमानी, अजित, उद्धत !

किंतु, यह भी तो कभी सोचो कि यह कितना विनत है !
व्यथित मनुजों की सरल समवेदना से द्रवित होकर
चिंतना मस्तिष्क की इसके उमड़ पड़ती, अकिंचन
रजकणों की ओर, मानो हो उतरता नम्र निर्झर !

देखते हो आग, केवल आग तुम इसके हृदय की,
अनलगिरि-सी जो किया करती विकट विस्फोट अपने;
पर, न तुम यह देख पाते हो—हरित, प्रिय अंकुरों-से
हैं छिपे इसके भविष्यत् के उसीमें सरस सपने !

ध्वंस का संकल्प इसका दूसरा है रूप उसका,
व्याप्त जो इसके हृदय में नवसृजन की कामना है।
जीर्ण-जड़ के प्रलय ही से सृष्टि सम्भव है नवल की;
नाश के स्वररंध्र से बजती विधायक भावना है।

गर्जना-सी सिंधु की सुन क्रांति की हुंकार इसकी
देखकर तूफ़ान मत एकांगिनी तसवीर आँको;
शान्त-सागर-सी गहन-चिंतन-निरत सविवेक-मुद्रा
देखने को दूसरे ही क्षण इसीकी ओर झाँको!

पांथ भी यह, पंथ का अपने रचयिता भी यही है;
रूढ़ियों, परिपाटियों ने पथ नहीं इसका बनाया।
साथियों से स्नेह गहरा! पर, न यदि साथी चले, तो
है अकेले ही क़दम इसने कठिन पथ पर बढ़ाया।

विषमता, अन्याय, शोषण से अथक संघर्ष करते
कट गई कर्कश क्षणों ही में भले ही सब जवानी;
पर, हृदय के मर्म का प्रत्येक अणु है सिक्त जिससे,
वह मनुजता-प्रेम उसकी चिरमधुरता की निशानी!

शांति भी, तूफ़ान भी है, रोग भी है, हास भी है,
वज्र भी है, बाँसुरी भी, है विविध ऐश्वर्य इसका!
अग्निमय-शीतल, कठिन-कोमल, समुन्नत और नत है,
नाश-रचना-विष-अमृत-मय, द्वन्द्वमय सौंदर्य इसका!

२०-११ ४६

पृथ्वी की पुकार : ६

मेरे सुत मानव, जीवनपय
मेरा तूने पान किया;
मेरे ही विनाश को अब अणु-
अस्त्रों का निर्माण किया !

मानवता की माँ कहलाकर
मैं आनन्दित थी मन में;
मेरी जय-ध्वनि की प्रति-ध्वनि का
चिरकम्पन था कण-कण में।

वह था केवल शून्य, जिसे सब
कहते थे विशाल अम्बर !
सजल हिलोर एक वह मेरे
वक्षःस्थल की, जो सागर !

मुझसे बड़ा तथ्य किसने कब
किसी काल में जाना था ?
जिसने जाना मुझे, उसीने
चरम सत्य पहचाना था।

सृजनसमन्वय-व्रत ले मेरे
रेणुकणों ने मिल-जुलकर—
किया संघटन मेरी महिमा–
का यह विस्मयकर, सुन्दर।

मेरा विघटन आज कराने–
को उत्सुक तेरा विज्ञान !
हैं उसके उपकरण वही, था
मेरा अन्तर् जिनकी खान !

विकृत और विद्रोही कुछ अणु
लेकर आज, अरे निष्ठुर,
मेरे विस्फोटक विनाश के
आयोजन को तू आतुर !

फिर भी, मेरा स्नेह देख तू,
है अक्षय उर में धारा !
मातृघात का पापी सुत भी
है अपनी माँ को प्यारा !

मेरी निष्ठा अचल, भविष्यत्–
पर अपने मेरा विश्वास।
मेरा ध्वंस न होगा तुझसे,
कर तू चाहे अपना नाश !

आत्मघात से बचजिस क्षण तू,
पुत्र, करेगा पश्चात्ताप,
शमनवारि से धो दूँगी मैं
तेरे पाप, ताप, अभिशाप।

ओ वंचित, उर की आँखों से
देख भूमिमाता का कोष!
तेरा रोष क्षणिक; स्थिर मेरी
करुणा, क्षमा, शांति, संतोष!

मैंने आदिकाल से अब तक
की कितनी साधना अनंत;
तेरे हित कर-कर जाता धूम
संचित मेरा अथक वसंत।

मेरे पुष्प, लता, पल्लव, सर
प्रतिभा की प्रेरणा विशेष;
मेरे उर के रस से सिंचित
मानवता का अंतर्-देश!

संस्कृति, कला, ज्ञान, दर्शन, मृदु
भाव, गीत, नर्तन, साहित्य,
जो सौन्दर्य, सत्य; शिव जग में,
जो कारुण्य और लालित्य,

मुझसे प्रेरित सभी, परिग्रह-
को प्रस्तुत तेरे आगे,
महानाश-मद-तम की निद्रा-
से यदि तू अब भी जागे!

स्रोत स्नेह का माँ के उर में
उछल रहा अविरत, अश्रांत !
लौट अंक में माँ के, मत रह
अधिक विपथगामी, विभ्रांत !

२२-११-५०

परिवर्तन : ७

प्रासादों में बजनेवाली
श्लथ-स्वर शहनाई हुई मौन,
चारणदल कर्कश रव का
सामन्ती जयजयकार बन्द;

शोषित-जलकण-स्वर मिलजुलकर
अब बने सिन्धु का महानाद,
नरकंकालों के खुले कण्ठ,
अब नए राग, अब नए छन्द!

आभूषण आभा खो बैठे,
हो गए म्लान बहुरंग वस्त्र,
सत्ता निरलंकृत-दिगंबरा—
मानवता करने उठी प्राप्त;

मुकुटों को रौंद, हो रहा है
नव क्रांतिवाहिनी का प्रयाण,
आँखों के आगे युग-युग के
साम्राज्य हो चुके हैं समाप्त।

नभ प्रेमकीर को मिला मुक्त,
वैभव का पिंजर गया छूट,
अब उसके पंख स्वतन्त्र हुए
हलका कर अपना स्वर्णभार।

सौन्दर्य-प्रतीक नहीं अब है
रक्ताभ कमल अथवा गुलाब,
अब एक जुही की श्वेत कली—
में सिमट रहा सौन्दर्यसार

परिवर्तित मूल्यों का युग है,
परिवर्तित तत्त्वों का समाज;
शव-आलिंगन मानवता ने
छोड़ा, जीवन से किया प्यार।

नभदर्शी होकर भी रखता
है कवि भू पर दृढ़ चरण आज;
दार्शनिक यथार्थ-अनुभवी है,
स्वच्छन्द-दृष्टि अब कलाकार।

एकाकी चरण थिरकते हैं
नूपुर-बंधन से मुक्त आज,
बाधों के आडंबर छूटे,
संगीत-कण्ठ भी नहीं साथ;

नर्तक, बनकर नटराज, प्रलय–
सर्जन-लय पर कर रहा नृत्य,
कर रहे माप भू का पद, नभ–
इंगित, मानो, कर रहे हाथ।

संगीत-कला अब स्वाभाविक,
मानो, राका में सिंधु-ज्वार;
स्वर सूक्ष्म-तार-सा मिला रहा,
मानो, भू से अम्बर अनंत।

निकला प्रासादों, दुर्गों से,
फैला कुटियों में ग्राम-ग्राम,
अब गीत नहीं बन्दी, उसके
प्रहरी वैभव का हुआ अंत।

नूतन संस्कृति, नूतन संध्या,
नूतन रजनी, नूतन प्रभात,
अब पुरुष पुरातन और प्रकृति
भी नूतन ही सज उठे साज।

मानवता, जग, जीवन नवीन,
परिवर्तित नभ, भू, सप्तसिंधु,
नव दृष्टि, चेतना, नव चिंतन,
अब नव दर्शन, नूतन समाज।

हुंकार उठी अब जन-गण से;
गूँजे भू, अंबर, गिरि, पयोधि;
पीड़ित, शोषित, दलितों ने अब
जाना निज बल-पौरुष अपार

ध्वनि सुनी शृङ्खलाखंडन की,
कण-कण ने गाया विजयगीत;
हो रही मुक्त है मानवता,
शोषक-सत्ताएँ रही हार।

२-१२-५०

नवयुग और नारी : ८

कर पदाघात अब मिथ्या के मस्तक पर
सत्यान्वेषण के पथ पर निकलो, नारी!
तुम बहुत दिनों तक बनीं दीप कुटिया का,
अब बनो क्रांति की ज्वाला की चिनगारी।

जड़ता, आडंबर, शोषण का भीषण वन,
वह ज्वाला सुलगा, उससे शीघ्र जलाओ!
साकार मूर्ति तुम सृजन-साधना की भी,
फिर नई नींव पर नया समाज बनाओ!

है तुममें बंदी आधा राष्ट्र हमारा,
पहले अपने रंगीन पाश तुम तोड़ो;
सुख-स्वप्नों के इस रूढ़िबद्ध जीवन की
मोहावृत दुर्बलता से अब मुख मोड़ो।

हो स्वयं मुक्त, उस मानवता को देखो,
जो तड़प रही है शोषण के बन्धन में;
उन प्रगति-शक्तियों की विद्युत् बन जाओ,
लग रहीं शृंखलाओं के जो खंडन में।

तुम में धरणी-सी सहनशीलता है जो,
सिखलाओ वह तुम उस चंचल यौवन का,
युग ने भविष्य का भार रख दिया जिसपर,
जो संचालित कर रहा राष्ट्र-जीवन को।

मधु की लिप्सा ले मत देखो जीवन को,
कटु सत्यों की है वज्रशिला यह जीवन!
जो नीलकंठ बन पचा सके हालाहल,
उससे सीखो इस जीवन का मूल्यांकन।

प्राचीन स्रोत जड़ संस्कृति के अब सूखे,
अब नव-धारा का आवाहन-आयोजन!
तुम भी उसमें अपनी साधना मिलाओ,
तप-प्रतिभा के उत्सर्ग करो अभिनव कण!

रंगिणि, तुमको सुन्दरतम रंग दिखाऊँ,
युगसंधि-लालिमा देखो विश्वगगन में!
नवयुग उगता है, डूब रहा पिछला युग!
क्या इससे सुन्दर रंग कहीं जीवन में?

वे कीर-कंठ के वृद्ध राग अब भूलो,
स्वरमयि, ढीले तारों के वाद्य हटाओ!
अब नए राग, स्वर चाह रहा नवजीवन,
स्वच्छन्द कंठ से नए गान तुम गाओ!

हर युग के कवि की सदा रहीं तुम कविता,
इस युग का कवि भी तुम पर गीत बनावे,
जिस सुन्दरता का नव कवि आराधक है,
वह सुन्दरता यदि वह भी तुममें पावे।

वह सुन्दरता है उस उदार अंतर् की,
जो शोषित का पीड़ित स्वर यदि सुन पाता,
आहत कठोर कर के प्रहार से तत्क्षण
कोमल तन्त्री-सा है झंकृत हो जाता।

जो चाटुकारिता की सीमा में तुमको
आबद्ध रखे, ठुकरा दो नर की माया।
युग-युग की प्रेरक शक्ति, उठो, फिर, नारी!
देखो, जग के आँगन में नवयुग आया!

१७-१२-५०

नव संस्कृति : १

(१)

देखे हैं वे मानव ?
अपनी ही पशुता के,
अपनी ही हिंसा के,
अपनी ही ईर्ष्या के,
अपने ही अन्तर् के
वैर, द्वेष, लिप्सा के
वाहन हैं जो विचित्र,
देखे हैं वे मानव ?

फैलाना चाह रहे
अपना व्यापक, अनन्त
जो प्रभाव अंबर पर,
धरणी पर, सागर पर,

विश्व पर, मनुजता पर,
जग के सब राष्ट्रों पर,
मुट्ठी-भर मानव वे;
देखे हैं मानव वे ?

उन शोषक मनुजों के
अनुचर हैं वैज्ञानिक;
उनसे धन ले-लेकर
उठने से सोने तक
दिन के क्षण तन्मय हो
करते हैं अर्पित जो
श्रम में अन्वेषण के
नव-नव अणु-अस्त्रों के।
राजनीति, अर्थशास्त्र
जिनको हैं सभी ज्ञात,
ऐसे विद्वान बहुत
योजना बनाते हैं
ऐसी ही दिवस-रात,
जिससे उन मुट्ठी-भर
मनुजों की प्रभुता की,
सत्ता की, वैभव की,
शोषण के पाशों की
दृढ़ता की उन्नति हो;
जनता की अवनति हो,
दुर्गति हो, दैन्य बढ़े।

शोषकगण ऐसे वे,
मिलकर उन 'चतुरों' से,
बुद्धि और विद्या का,
करते हैं विक्रय जो,

करते षड्यंत्र कुटिल,
अथक यत्न, श्रम अटूट,
जनता के शोषण का
आयोजन विविध भाँति
निकट देख सघन रात,
थककर वे कहते हैं—
"आओ, अब दूर करें
दिन-भर की हम थकान।
साधन एकत्र करो
सभी मनोरंजन के!
चित्र कहाँ, गीत कहाँ,
कला कहाँ, नृत्य कहाँ,
मादकता, सुन्दरता,
कविता, रस, नाट्य कहाँ,
संस्कृति के विविध अंग?
लाओ सब, लाओ सब!
आस्वादन, अभिनंदन,
स्वागत, सत्कार करें,
मूल्यांकन कर उनका,
आत्मसात् करें उन्हें!
आश्रय यदि दें न हमीं,
कौन करे संस्कृति का
आदर, उद्धार सदय?"
कह उठते कलाकार—
"धन्य रसिक, धन्य आप!"
ऐसे हैं संस्कृति के
प्रेमी ये शोषकगण;
हैं इनके ऐसे ही
आश्रित ये कलाकार!
यह इनकी संस्कृति है!

जीर्ण हुई, शीर्ण हुई;
युग इसका अस्तोन्मुख !

(२)

देखे हैं ये मानव ?
जिनकी है भिन्न दिशा,
जिनका है लक्ष्य अन्य !
अपने ही चिंतन से,
अपनी ही प्रतिभा से,
अपने ही श्रम से जो
करते हैं नवयुग की
ऊषा का आवाहन,
शिखर साधना का जो
कर देती अरुण-वर्ण !
प्रेमी नव-संस्कृति के
ये साधक प्रगतिशील,
जिनके नव पथ पर है
रश्मियाँ बिखेर रही
ज्योति नए मूल्यों की !
देखे हैं ये मानव ?

जिनका है प्राण-श्वास
मानवता का विकास !
अक्षय विश्वास और
निष्ठा जो अचल लिए,
कर रहे सृजन नवीन ।
देते आधार उसे
एक नया, अब तक जो
मानवता शोषित थी,
वंचित थी, पीड़ित थी;

संस्कृति की बात दूर,
अन्न, वस्त्र, घर ही को
तरस-तरस तोड़ रही
दम अपना रह-रह कर।

नव संस्कृति वैभव की
दास नहीं, स्वामी है !
यह है चिर-सृजनशील।
यह विनोद नहीं नैश
श्रांत, शिथिल शोषक का;
यह है उत्साह और
प्रेरणा मनुजता की,
बढ़ती जो उस पथ पर,
जिसपर है हृदय मुक्त,
जिसपर मस्तिष्क मुक्त,
चिंतन, अनुभव स्वतंत्र,
जिसपर स्वच्छंद सृष्टि;
पीछे हो छोड़ चुकी,
जो परास्त करके सब
स्थूलतर समस्याएँ,
अन्न, वस्त्र आदिक की।
सूक्ष्म समस्याएँ भी
अन्तर् के द्वन्द्वों की,
भावना, हृदय, विचार,
अन्वेषण, मानस की
सुलझाने में समर्थ
मानवता जिससे हो,
वह संस्कृति, वह नवयुग,
नव चिंतन, नव समाज,
है जिनका लक्ष्य आज,
देखे हैं ये मानव ?

२८-१-५१

भूमिश्रमिक की पत्नी : १०

इसी भूमि में मेरे प्रिय पति–
का श्रम सारे जीवन का,
ख़ून, पसीना लगा, बना जो
प्राण-प्रवर्तक कण-कण का;

फिर भी, केवल एक श्रमिक अब–
तक मेरे प्रियतम इस पर;
रहे पराए वह औरों की
इस धरती पर श्रम कर-कर !

हाथ-पाँव के सिवा हमारा
दुनिया में आधार नहीं;
अन्न, वस्त्र, झोंपड़ी, भूमि पर
कुछ भी तो अधिकार नहीं !

कड़ा परिश्रम कर हम दोनों
जो मज़दूरी पाते थे,
अन्न, वस्त्र का क़र्ज़, किराया
कुटिया का दे आते थे।

अधभूखे, अधनंगे रहकर
काटा हमने सब जीवन;
टूटी कुटी सिहर उठती, जब
आती वर्षा, शीत, पवन!

दूध दुहा औरों का हमने,
जाना उसका स्वाद नहीं;
गेहूँ, घी हो चखा कभी, यह
आता हमको याद नहीं!

छाछ माँग लाए बहलाने-
को बच्चों को कभी-कभी;
ज्वार-बाजरा पाने ही में
जीवन का श्रम लगा सभी!

वह भी हमने कभी पेट-भर
नहीं आज तक था खाया;
याद नहीं है, कभी हमारे
घर अच्छा कपड़ा आया!

धोती और लँगोटी हमने
फटी-पुरानी पहनी है।
कैसे हमने ढँकी लाज, यह
बात न हमको कहनी है।

पूर्वज भी जो रहे हमारे,
उनका भी इतिहास यही;
एक कहानी है अभाव की,
युग-युग से जो अमिट रही।

ज़मींदार, शासक, ऋषि, सेठों-
के हमने थे गुण गाए;
कितने पत्थर, देव बना, हम
फूल चढ़ाने को लाए!

सिर पर बिठा किया अपने श्रम-
से हमने जिनका पोषण,
किया उन्हींने, हाय, हमारा
निशिदिन हृदयहीन शोषण!

मिट्टी की सेवा का बदला
यह श्रमजीवी नीरव को—
मिट्टी का पुतला समझे वे
रक्तमांस के मानव को!

हम दोनों, मानव होकर भी,
पशु से अधिक विताड़ित थे!
पग-पग पर प्रहार पाते थे,
पल-पल पर अपमानित थे!

अब तक सोते रहे, इसीका
यह कटु फल हमने पाया!
सहसा एक प्रभात सूर्य की
किरणों में जागृति लाया!

हमने अनुभव किया कि हम भी
मानव-जैसे मानव हैं;
दोष हमारा यही कि हम अति-
सहनशील हैं, नीरव हैं!

हम-जैसे अगणित मनुजों का
जग में हाल एक-सा है;
शोषण, पीड़न यही, सभीकी
यही असह्य दुर्दशा है!

पति से मैं कह उठी कि—आओ,
अब हम सब हुंकार करें;
कोटि-कोटि मानव मिल अपना
परिवर्तित संसार करें!

हम शोषित, सैनिक समता,
न्याय, सत्य के बन जावें,
करें परास्त शोषकों को हम,
जग में नवजीवन लावें!

जिसका श्रम हो, भूमि उसीकी,
अन्न, वस्त्र, घर हो उसका;
शासन उसका, संस्कृति उसकी,
नवयुग का स्वर हो उसका!

४-२-५१

वसंतागम पर : ११

(२)

संक्रमण पर जब शिशिर लेता विदा है
और आता नवल मधुर वसन्त है,
सोचता है कवि—नया युग आरहा है,
हो रहा म्रियमाण युग का अंत है

कुछ दिनों ही में जगत् तब देख पाता
जीर्ण पत्रों का दहन-त्योंहार है!
क्रांति की अनिवार्य निष्ठुरता प्रलय है,
किन्तु, वह कर्तव्य है, अधिकार है।

भूमिका है नाश ही नूतन सृजन की,
जीर्ण, जड़ का नाश नव उल्लास है!
शिशिर यदि बन जाय अविनश्वर जगत् में,
तो न संभव नव वसन्त-विकास है।

ध्वंस का साहस हृदय में यदि नहीं है,
सृजन के उल्लास का अधिकार क्या ?
क्रांति-पथ के शूल यदि परिचित नहीं हैं,
शांति, नवनिर्माण से फिर प्यार क्या ?

(२)

पूर्ण होते, मुसकराते और खिलते
देखता जब फूल को कवि डाल पर,
मनुजता की मुक्ति का, सौंदर्य, सुख का
देखता वह चित्र, मानो, मनोहर ।

पर, कुसुम को तोड़ते जब हाथ निष्ठुर,
छेदते, खाते, कुचलते, सूँघते,
शयनकक्षों में सजाकर जब विलासी
मदिर स्वर पर सिर हिलाकर ऊँघते,

तब नयन में घूम जाता चित्र उसका,
जो मनुजता बद्ध शोषण-पाश में,
जो दलित, पीड़ित, प्रवंचित हो रही है,
कर रही अनुभव नरक हर श्वास में ।

सृष्टि-उपवन के मधुरतम पुष्प मानव
जो निरंतर सह चुके अगणित शिशिर,
कर रहे निश्चय स्वयं उस क्रांति का, जो
दे उन्हें मधुमास का आनन्द फिर

११-२-५१

आषाढ़स्य प्रथमदिवसे : १?

कितने युग बीते,
सरस सृजन
था किया इसी दिन के बादल के
प्रथमागम का
कालिदास की कलाकल्पना ने कोमल,
जो दूत बना था यक्ष-प्रिया के हेतु
विरह-व्याकुल प्रियतम का।
सुन्दर था विरही यक्ष,
विरहिणी सुन्दर दूरस्थिता प्रिया
और कल्पना सुन्दर थी वह
उस महान् कवि की, जिसने था
दूत बनाया इस दिन के उस प्रथम मेघ को।
है वही दिवस, यह वही दिवस,
आषाढ़-प्रतिपदा सदा स्मरण के योग्य।

पर, आज व्योम में नहीं एक भी रेखा,
जो मेघ कही जा सके किसी भाषा में।
कवि देख रहा अपने आँगन से ऊपर—
विस्तृत, मरु-सा सूना आकाश चतुर्दिक्।
कैसी आई प्रतिपदा आज आषाढ़ी,
अगणित सूखी आँखें जिसने तरसाईं।
कवि की परिचित मानवता आज विरहिणी!
कल्पनाशून्य-सा आज मनुज का मानस,
उर में न इन्द्रधनु आज सरस भावों का,
ऊपर सूखा ही मेघशून्य अंबर है।
यह प्रथम दिवस आषाढ़ मास का कैसा,
जिसमें न मेघ का चिह्न व्योम में कोई।
कैसे कोई कवि करे सृजन उस सुन्दर
शृंगारकाव्य का आज, जिसे लिख जग में
हो गए अमर कवि कालिदास रस-स्रष्टा,
जिनके युग में थीं नहीं समस्याएँ ये!

अब तो वह मानव क्षुधित, नग्न, अनिकेतन,
जिनके मानस का सृजन यक्ष बन सकता,
जो प्रथम मेघ में दूतकल्पना करके
विरही का भिजवाता संदेश प्रिया को
शोषण के फौलादी हाथों ने कुचला;
अब मनुज नहीं वह मनुज कि जो कर सकता
रससृष्टि पुरातन, मेघदूत की रचना।
है नहीं मेघ भी आज शून्य अंबर में,
था जिसे देख उच्छ्वास हृदय से उठता।
उच्छ्वास भावना के रस से पूरित वह,
जो अजर, अमर शृंगारकाव्य बन जाता,
कल्पना-स्वर्ग-रचना करता जीवन में।

आता भी यदि वह प्रथम मेघ इस नभ में,
कवि आज न उससे दूतकार्य करवाता।
प्राणों में भर सम्पूर्ण याचना कहता—
"हे प्रथम मेघ, गंभीर बनो, रुक जाओ,
बरसो, मेघावलि और गगन में लाओ,
जो छा जावे अंबर पर,
जो बरस पड़े धरणी पर।
तुम दूत नहीं, तुम स्वयं आज प्रियतम हो,
प्रियतम हो भूखी, नंगी मानवता के।
देखो तो, कवि के आस-पास मानवता
वंचित, शोषित, अपमानित, त्रस्त, व्यथित है।
इसने कितने कष्टों का ज्येष्ठ बिताया।
आषाढ़ मास के प्रथम दिवस के बादल,
थी इसे तुम्हारी आशा, आओ, आओ।
तुम इस सूखी, सूनी, तपती धरती पर
हरियाली का ऐसा सुख-स्वर्ग बसाओ,
प्रत्यक्ष सत्य बनकर जो सम्मुख आवे,
यह दिगंबरा, अनिकेत, क्षुधित मानवता
जिससे पा जावे अन्न, वस्त्र का वैभव
विरहणी मनुजता, विरह तुम्हारा इसका
दे चुका ताप कितना, अब तो तुम ठहरो,
उत्सर्ग करो, बरसो, इस पर बलि जाओ।
अपना अस्तित्व मिटाओ, यहीं मिटाओ।
मत दूत बनो तुम, दूर न अब तुम जाओ।

कल्पनालोक का यक्ष, प्रिया भी उसकी,
कल्पनालोक की विरह-व्यथा से पीड़ित।
तुम यक्षदूत बन सार्थक हो न सकोगे;
अवकाश-विभव का वह युग आज कहाँ है?
यक्षों का युग हो गया तिरोहित कब का,

है आज ठोस धरती का, वास्तव का युग,
पृथ्वी - पुत्रों का, मनुजों का युग नूतन।
मानवता शोषण, भूख, विषमता, रण से
जितनी पीड़ित है इस युग में, हे बादल,
आषाढ़ मास के प्रथम दिवस के बादल,
उतना पीड़ित वह विरही यक्ष न होगा
उतनी व्यथिता होगी न प्रिया भी उसकी
संकुचित व्यथा से व्यथित जनों के हित तुम
मत दूत बनो, निस्सीम व्यथा को देखो।
अनुभूति सत्य की, भू की, मानवता की
अपने अंतर् में जाग्रत करके देखो।
वेदना गहनतर अब इनकी पाओगे।
होगा यदि तुम में हृदय, बरस जाओगे।

इस युग के कवि की व्यथा, वेदना बदली।
काल्पनिक विरह का सृजन करे वह कैसे?
इतनी सुविधा, इतना अवकाश किसे है?
पैरों के नीचे तप्त, शून्य धरणी है,
सिर के ऊपर आकाश शुष्क छाया है।
है व्यथित, त्रस्त दोनों के बीच मनुजता,
जिसके शोषण ने कवि का हृदय हिलाया।
इस युग के कवि की व्यथा गहनतर, व्यापक।
हलके बादल को दूत बना विरही का
वह आत्मतोष कैसे पावे इस जग में?
गत युग के कवि, युग-युग के कवि को वंदन,
सौंदर्यसृष्टि से कालिदास की अब तक
मानव-प्राणों में स्मृतिरसधारा बहती;
है, किन्तु, आज की व्यथा भिन्न उस युग से।

अपने युग की ले व्यथा, वेदना गहरी,
इस युग का कवि भी शून्य, खिन्न आँखों से
पथ देख रहा है नूतन मेघ तुम्हारा,
हे कालिदास के भाव-काव्य के बादल!
है शून्य अभी तक गगन, तप्त धरणी है,
सूखी धरणी पर शोषित, व्यथित मनुजता।
इसकी कितनी गंभीर समस्याएँ हैं,
गंभीर वेदना, है अनुभूति गहनतर।
तुमपर इसकी है अन्न, वस्त्र की आशा।
आओ, आषाढ़ी बादल, आओ, आओ,
इस जटिल, गहन युग में गहरे बन आओ।
केवल दर्शक की भाँति न ऊपर-ऊपर
कल्पनादूत-से तुम क्षण में उड़ जाओ।
नवयुग के कवि का गहन, करुण आवाहन,
प्राणों के आकुल छंदों का आवाहन
सुनकर आओ, गंभीर, सजल बन आओ।
आकर ठहरो, बहु मेघावलियाँ लाओ।
बरसो, जमकर बरसो, बरसो तुम इतने,
हो शस्यश्यामला सूखी, सूनी धरती।
प्राचीन यक्ष के संदेशों के वाहक,
बनकर प्रियतम इस युग की मानवता के
आओ, निदाघतप्ता धरणी पर आओ।

अभिमान न करना, एक अंश यह होगा;
हैं अमित मनुजता के पथ पर बाधाएँ!
कवि को होगा उत्साहगीत वह गाना,
जिससे समृद्धि वह जो तुम इसको दोगे,
शोषक वर्गों के बचा दुष्ट हाथों से
रख पावें अपने पास पुत्र पृथ्वी के,
जो कठिन परिश्रम करके इस धरणी को

तुमसे लेकर जलदान अन्न आदिक के
उत्पादन के हैं योग्य बनाने वाले।
आह्वानगीत यदि गाकर कवि रह जाए,
मानवता उससे केवल दान तुम्हारा
पाकर शोषण के बंधन काट न पावे,
तो अन्नवस्त्र की शोषक लूट मचावें,
उत्पादक श्रमजीवी वंचित रह जावें।
इससे, नवयुग का कवि करता स्वरसाधन,
उस क्रान्तिगीत की रचना की तैयारी,
जो शोषित, वंचित श्रमजीवी जनता को
बल भी दे अपने श्रमफल की रक्षा का।"

२०-६-५१

किरण और कुटीर : १३

सारे जीवन की कलाराधना मेरी,
विज्ञान, ज्ञान का सब तन्मय अन्वेषण,
सब राजनीति की, अर्थशास्त्र की सेवा
उस क्षण की स्वागत-आशा पर है अर्पण,

जिस क्षण में यह शोषित, वंचित, श्रमजीवी
खोलेगा अपने नयन, न्याय पावेगा;
पशुवत् जीवन ठुकराकर दृढ़ चरणों से
अधिकार मनुजजीवन का अपनावेगा।

ऊपर के स्तर पर बैठ हँसो तुम मुझपर
मैं भू पर इसके साथ खड़ा हूँ हर्षित;
इसकी श्रमहुंकारों की लय पर मेरा
संगीत, काव्य होना सार्थक, परिमार्जित।

जो हृदयवान हैं, हृदयहीन इस युग में,
उनको मानवता का आकर्षक इंगित
है बुला रहा इन खेतों, श्रमकेन्द्रों में,
जिनमें है जुटा हुआ श्रमजीवी शोषित।

इसको अपनाने, इसे धैर्य देने में
जो सुख है इसकी संगति, प्रोत्साहन में,
उसका शतांश भी नहीं पलायनवादी
साहित्यकलाविद् के सुखमय जीवन में।

जो धन, सत्ता, वैभव, यश से मतवाले,
उनको श्रमजीवी का तप द्रवित न करता;
वे निष्ठुर भरते हैं भांडार विभव के,
यह शोषित जब आहें अभाव में भरता।

नववर्षागम पर जब खेतों के स्वामी
उन्माद हर्ष का उर में अनुभव करते,
इस भूमि-श्रमिक की पत्नी की आँखों से
तब विवश व्यथा के आँसू झर-झर झरते।

अपने पति से वह खिन्न कंठ से कहती:—
"दे चुके किराया, अब तक, किंतु, हमारी
कुटिया का मालिक ने न सुधार कराया;
वर्षा आई, अब यह टपकेगी सारी।

सारी दुनिया वर्षा में हर्ष मनाती,
मेरी आँखों में आँसू भर-भर आते;
अब की वर्षा में टिक न सकेगी कुटिया,
हम अपने बच्चों की हैं खैर मनाते।

कुटिया ही क्यों, उस बड़े खेत को देखो,
उसमें खपते सब जीवन गया हमारा।
वह आदिकाल से अब तक रहा पराया;
कुछ पैसों पर बिक गया परिश्रम सारा।

वर्षा आती है, मालिक खुशी मनाएँ,
बरसेगा उनके इन खेतों में सोना;
हम किस आशा से हों प्रसन्न वर्षा से,
है लिखा हमारे जीवन में तो रोना।"

सुन पत्नी की यह मर्म-व्यथा की वाणी,
श्रमजीवी का संतप्त हृदय हिल जाता,
पर, वह संयम का धनी धैर्य धारण कर
इन शब्दों में पत्नी को धैर्य बँधाता :—

"यों मत दिल तोड़ो अपना, धैर्य रखो तुम,
आशा जीवन की साँस, ग़रीबों का बल;
आएगा कोई ऐसा दिन जीवन में,
जब हम भी पाएँगे अपने श्रम का फल।

मेरी पग भर भी भूमि नहीं है जग में,
मेरा अपना तो है केवल श्रम ही श्रम;
फिर भी, है सबकी भाँति हर्ष मुझको भी,
कैसा सुन्दर नभ में पहला मेघागम!

है दान प्रकृति का यह बादल समदर्शी,
इसके स्वागत में हम भी हृदय बिछावें;
धरती इससे जो हरी-भरी होती है,
उस शोभा से हम भी निज नयन जुड़ावें!"

उत्तर में गुंजित श्रमिक-प्रिया की वाणीः—
"औरों की यह धरती, बादल भी सुन्दर,
कुटिया भी सुन्दर और कारख़ाने भी,
सब सुन्दर, हम फूलें इस सुन्दरता पर;

घर बैठे कोई इनसे लाभ उठावे,
हम अन्न-वस्त्र को तरस-तरस मर जावें;
सौन्दर्यदृष्टि यह छोड़ो अब तो, प्रियतम,
आओ, हम उठकर नया समाज बनावें।

सुन्दर तो होगा वह समाज, वह जीवन,
जिसमें समान सुविधा पावे हर मानव,
अपना घर, औषधि, अन्न, वस्त्र पाने को
यों रोना और तरसना बने असम्भव!

ऐसा युग लाने के प्रयास में अब हम
दोनों लग जावें, करें समर्पित जीवन
उनको, जो नव-निर्माण-पंथ पर करते
हैं हर शोषित श्रमजीवी का आवाहन।

उस शुभ प्रयास में हम जो सुख पाएँगे,
फीका होगा उसके आगे वह सब सुख,
जो बादल और चाँदनी हमको देते;
आओ, हम दोनों हो उस पथ पर उन्मुख।"

संवाद बनाता यह अब पहुँचीं किरणें
कुटियों में भी नवयुग-प्रकाश की उज्ज्वल;
जो युग-युग से शोषण में पिसते आए,
वे प्राप्त कर रहे नई दृष्टि, अभिनव बल।

है कलाकार भी पंथ चुन रहा अपना,
प्रेरणा उसे देगा सुख-दुख जन-मन का;
रस प्राप्त करेगा उसी भावना में वह,
जिसमें स्पन्दन पावेगा वह जीवन का।

८-७-५१

वेदना और विद्रोह : १४

इन 'नोन, तेल, लकड़ी' के घोर अभावों की
जंजीरों में जीवन का जकड़ा पड़ा यान।
सूखी आँखें, कंकाल देह, हैं रुद्ध कण्ठ;
हम जीवित लाशें ताका करतीं आसमान।

हम सारे दिन का संचित अपना दुख समेट
सोया करते प्रतिदिन अनिकेतन, क्षीणकाय
प्रासादों के चरणों में पथ पर पंक्तिबद्ध
हैं अर्धरात्रि से अरुणोदय तक नग्न, हाय।

कितने वर्षों तक अपनी आँखों से देखा
महलों को हमने वंचित रहकर बार-बार,
टूटी कुटिया भी अपने लिए न जुट पाई,
बे-घर रह रह हम जीते आए लगातार।

सारे दिन मारे मारे फिरते हम असंख्य,
मुट्ठी भर पाते अन्न नहीं हम क्षुधित, दीन,
देखा करते हैं वैभव का निर्मम विलास—
प्रासादों में पशु-पक्षी खा पक्वान्न पीन।

नारी की लज्जा, शील पुरुष का हुआ नष्ट,
दारिद्र्य हमें, पशु-जीवन का अभ्यस्त बना,
कर रहा पतन की ओर निरन्तर है उन्मुख,
है अन्धकार जीवन के आगे व्याप्त घना।

हम दल के दल शोषित अपना दे चुके रक्त,
मनुजत्व हमारा गया रक्त के साथ-साथ।
हम पशु हैं, दानव हैं, जड़ नीरव पत्थर हैं,
इतना सहकर भी नहीं हमारे उठे हाथ।

कितना वैभव एकत्र कर लिया अनायास
हमको वंचित कर-कर शोषक-समुदायों ने;
श्रम के, शोणित के लुटे हमारे कण असंख्य,
निश्चेष्ट खुली आँखों देखा असहायों ने।

गम्भीर वेदना संचित हो-हो प्राणों में
है कालकूट विष बनी, बने हम प्रलयमूर्ति।
संगठित हमें करने आया यह युग-प्रकाश!
पद-दलित पा रहे अपने में अब महास्फूर्ति!

वेदना हमारी नहीं विचारक वे समझे,
जो विभवशिखर की पुष्पसेज पर ध्यानलीन;
हममें मिल पाए वे संघर्षशील चितक,
जो कभी रह चुके भूखे, नंगे, गृहविहीन!

पथ हमें दिखाती है जीवन का प्रगतिशील
उन मुक्तभोगियों की ज्वलंत प्रतिभा नवीन;
हम अब जाग्रत, संगठित और उद्यत होकर
शोषकवर्गों से लेंगे अपने स्वत्व छीन।

वञ्चना, अभावों, शोषण के हम बन शिकार
जीवन में पाते रहे निराशा सतत, हार!
क्रन्दन का भी अधिकार हमें था नहीं प्राप्त,
हमने सहना सीखा केवल निष्ठुर प्रहार!

अब कण्ठ खुले, खुल गए नयन, उत्साह जगा,
हम मिलकर शत से लक्ष, लक्ष से कोटि बने!
अनुभूत पदों में गति, हाथों में स्फुरण हुआ,
संघर्षपंथ के नभ में ध्वज अविजेय तने!

१५-७-५१

मौन और संगीत : १९

गायक, तुमको धन्य, कि तुम गाते हो गाना,
मैं केवल श्रोता हूँ, सुनकर सुख पाता हूँ।
हिमगिरि की महिमा-जैसी है स्वर की महिमा,
जिसके आगे झुका, झूमकर, रह जाता हूँ।

मैं पृथ्वी का पुत्र, साधना नीरव मेरी,
निज श्रम से धरती को मैं हरिताभ बनाता।
बिरले सहृदय सुन पाते उस मौन गीत को,
हरा-भरा हो जिसे भूमि का कण-कण गाता।

सहसा हो जाता विलीन स्वर मधुर तुम्हारा,
एक कसक देकर श्रोता को, उठकर ऊपर,
पर, धरती में, तन्मय हो, मिलकर रह जाता
मेरा मौन, साधना अविरत श्रम की बनकर।

सुख, समृद्धि, सन्तोष, सूर्य की किरणों-जैसा,
निज श्रम से, मैं जन-जन के घर-घर पहुँचाता,
जो, नयनों की ज्योति, करुट-स्वर उनका बनकर,
एक नया जीवन इस जगती में ले आता।

फिर भी, पाता सदा उपेक्षा मैं इस जग से,
ईर्ष्या मुझ में नहीं, धैर्य ही मेरा धन है।
तुम श्रद्धा, सम्मान, वंदना जग की पाओ,
मेरा भी तुमको अर्पित यह स्नेहसुमन है।

पर, श्रम का बल मौन, विश्व श्रम पर आधारित,
जग के आश्रित गीत, न भूलो इसको, गायक!
नभचुम्बी स्वर जिए, मौन को भी जीने दे,
श्रम-साधक भी जिए, भूमि का नीरव सेवक।

२६-१-५२

प्रगति और जीवन : १६

भूमि चलती है निरंतर।

स्नेह श्रम से है जिन्हें,
जो भूमि से हैं प्यार करते,
नवसृजन की साधना से
विश्व का जो शून्य भरते,

प्रगति का जो पंथ
नवयुग खोलता है,
चरण उनके भी उसीपर।
भूमि चलती है निरन्तर।

जो स्वयं जड़ हैं, धरा को
भी वही जड़ मानते हैं,
प्यार के विस्तार की गति
जो नहीं पहचानते हैं।

"प्रगति जीवन, मरण जड़ता"—
बोलता है
अनुभवों के सत्य का स्वर।
भूमि चलती है निरन्तर।

मुकुट चमके, क्रांति आई,
धूल में फिर मिल गए सब;
समय-प्रहरी ने पुकारा—
"कुछ नहीं अब, कुछ नहीं अब!"

लिख गया इतिहास जो
स्मृति की शिला पर,
मिट रहे प्राचीन अक्षर।
भूमि चलती है निरंतर।

प्यार वह, जो विभव के
प्रासाद का बंदी बना था,
स्वर्णशय्या पर मिलन के
पाश में जो अनमना था,

खो गया वह शून्य में
झंकार बनकर।
रुक गया सौंदर्यनिर्झर।
भूमि चलती है निरन्तर।

पर, अमर श्रम, हल अमर है,
भूमि, श्रमजीवी अमर हैं;
अमर उसकी प्रेयसी भी,
प्रेम दोनों का अजर है।

है अमर उनकी कुटी,
जीवित कहानी,
है पड़ोसी अमर तरुवर।
भूमि चलती है निरंतर।

अमर वह, गतिशील जो है,
अथक जिसकी साधना है,
भूमि की गति प्रगति की
जिसकी चिरंतन प्रेरणा है।

नाश उसका ध्रुव
कि जिसने गति न जानी।
जो रुका, है वही नश्वर।
भूमि चलती है निरंतर।

भूमि की गति से, क्षमा से,
मौन, तप, आराधना से
सीखकर श्रम अथक, शाश्वत
बन गया श्रमसाधना से,

जो श्रमी, जो प्रगतिपंथी,
भूमि सेवक,
वंद्य कवि का वह अनश्वर।
भूमि चलती है निरंतर।

चल रहे दोनों, युगों से;
अंत जिस पथ का न आया,
जिस प्रगतिपथ पर धरा ने
भूमिसुत सहचर बनाया,

करें जीवनसाधना
साहित्य - साधक
चल अमर उस प्रगतिपथ पर।
भूमि चलती है निरंतर।

३-२-५२

धरती का गीत : १७

केवल सहृदय सुन पाते हैं
धरती के अंतर् की पुकार।

जिसके प्राणों में पलता है
ज्वालागिरि का उत्ताप प्रखर,
पर, जग को देती रहती है
जो शीतल सरिता, सर, निर्झर;

उठती है जिसके कणकण से
क्षण-क्षण जीवन-रस की फुहार
केवल सहृदय सुन पाते हैं
धरती के अंतर् की पुकार।

संस्कृति का प्रहरी तपोनिष्ठ
हिमगिरि विकास जिस रजकण का,
वह लघु कण है वात्सल्यपात्र
शिशु, मानो, जिसके आँगन का;

मातृत्व-प्रेरणा नारी की
जिसकी अनंत है स्नेहधार।
केवल सहृदय सुन पाते हैं
धरती के अन्तर् की पुकार।

उत्सर्ग सिखाया नारी को,
है प्रेम पुरुष को सिखलाया;
उनके जीवनपथ पर जिसने
संचित श्रीसौरभ बिखराया;

दे दिया खुले हाथों अपना
नंदनवन करने को विहार।
केवल सहृदय सुन पाते हैं
धरती के अंतर् की पुकार।

जिसकी पुकार है शांति, क्षमा,
करुणा, मानवता, ममता की,
जिसकी पुकार है त्याग, न्याय,
शुचिता, उदारता, समता की,

उस पृथ्वी का स्वर सुनने को
अनुभूति चाहिए निर्विकार।
केवल सहृदय सुन पाते हैं
धरती के अन्तर् की पुकार

आकाश शून्य है, सूर्य आग,
विस्तारमात्र, खारा सागर;
पर, चित्रविचित्र और गतिमय
पृथ्वी सुन्दरता की आकर।

है मौन गीत इसका, इसके
कणकण में है अक्षय दुलार।
केवल सहृदय सुन पाते है
धरती के अन्तर् की पुकार।

वज्राहत, भूकंपांदोलित
होकर भी अविचल रहती है;
पहुँचाती क्षति न किसी को भी,
सबके प्रहार यह सहती है।

तप करती है, रस देती है,
है सृजनशक्ति इसकी अपार।
केवल सहृदय सुन पाते हैं
धरती के अंतर् की पुकार।

जिस दिन इसने आरम्भ किया
इस जग पर स्नेह लुटाना है,
उस दिन से केवल देना ही
इस तपस्विनी ने जाना है।

प्रतिदान प्रेम का इसने कब
किससे है माँगा कर पसार?
केवल सहृदय सुन पाते हैं
धरती के अन्तर् की पुकार।

जो केवल लेता रहता है,
जो अस्थिर, स्वार्थी और मुखर,
जो बिना साधना मिलता है
मानव को जीवन के पथ पर,

आदर्श नहीं वह वसुधा का,
वह इसके उर का नहीं प्यार।
केवल सहृदय सुन पाते हैं
धरती के अंतर् की पुकार।

१०-२-५२

लघुता का विद्रोह : १८

विद्रोह महत्ता से करता
हूँ मैं निज लघुता के बल पर।

सत्ता का महामहिम रथ जब
वैभव के पथ पर चलता है,
करते हैं उसका विजयघोष
अगणित अनुचर, अगणित चारण!

मैं उनसे अलग, अकेला हूँ;
साधना कुटीरों में मेरी।
युग पर आधारित मेरा जग,
क्षण पर निर्भर उनका जीवन।

उनका पथ फूलों का, मेरा
शूलों का, यह हममें अंतर
विद्रोह महत्ता से करता
हूँ मैं निज लघुता के बल पर।

गर्वोन्नत नहीं, विनत मेरा
मस्तक दायित्वभारवाही,
हुंकार नहीं, है दृढ़ निश्चय
घोषित मेरे संयत स्वर में।

मैं पर्वत नहीं, क्षुद्र रजकण,
मैं सिन्धु नहीं, मैं लघु जलकण;
मैं विप्लव का उपकरण, किन्तु,
है शस्त्र नहीं मेरे कर में।

मैं जीर्ण जगत् में नवल सृजन-
की आशा का हूँ कुसुमाकर।
विद्रोह महत्ता से करता
हूँ मैं निज लघुता के बल पर।

जो वृन्दगीतयुत वृन्दवाद्य—
से रखते महलों को मुखरित
ले अमित, पीन वीणा, मृदंग
आदिक वाद्यों के उपादान,

है उन्हें चुनौती देने को
मेरी कुटिया में एकाकी
केवल वंशी का मृदु, कम्पित,
साधनानिरत स्वर प्राणवान,

अपनी लघुता के पंखों से
जो छुआ चाहता है अंबर।
विद्रोह महत्ता से करता
हूँ मैं निज लघुता के बल पर।

जो गढ़ों और प्रासादों के
ऊँचे कगार पर बैठ-बैठ
अपने स्वप्नों के स्वर्गों से
सम्पर्क जोड़ते हैं प्रति-क्षण,

उनसे विभिन्न मेरा दर्शन।
है धूलभरे धरणी के उन
मानव-रत्नों का दुःखदैन्य
मेरे उर का अनुभव-स्पंदन,

मेरा जिनसे तादात्म्य निबिड़,
जो जीते हैं भू पर श्रम कर।
विद्रोह महत्ता से करता
हूँ मैं निज लघुता के बल पर।

जो पीड़ित, लघु, पददलित, मूक,
जिनपर है धूल उपेक्षा की,
उनके भी तो है हृदय, प्राण,
उनका जीवन भी है जीवन।

वे सुनते हैं उनकी आज्ञा,
जिनके हाथों में राजदंड।
अभिशाप-अभाव-ग्रस्त जो हैं,
मैं सुनता हूँ उनका क्रन्दन।

वे बड़े, और मैं छोटा हूँ,
कैसे बन पाते हम सहचर?
विद्रोह महत्ता से करता
हूँ मैं निज लघुता के बल पर?

१७-२-५२

महामानव : अंतर् और बाह्य : १९

भूलता यह जा रहा है
हृदय की झंकार कोमल।

वंदना इसकी प्रतिध्वनि
कर रही है दशदिशा से;
कंठ के उद्घोष से यह
नभ गुँजाता आ रहा है।

विपुल वैभव फूल बनकर
पंथ पर इसके बरसता;
पा रहा है सब, न उर का
शून्य भरने पा रहा है।

मुखर जीवन में बिताने
प्राण इसके मौन के पल;

भूलता यह जा रहा है
हृदय की झंकार कोमल।

विश्व है परिवार इसका,
नीड़ यह विस्तृत धरा है,
धारणा है यह कि मानव-
मात्र है स्पृहणीय इसका;

देखता है, किन्तु, उर में
झाँककर ज्योंही, अकेले
मौन में, मिलता नहीं है
एक भी आत्मीय इसका।

यह अकेला है, अकेला
हृदय इसके साथ केवल।
भूलता यह जा रहा है
हृदय की झंकार कोमल।

ज्ञान, अन्वेषण, मनन की
गहनता ने, उच्चता ने
पृथक् इसको कर दिया है
सरलता, लघुता, प्रणय से,

महामानव, आधुनिक युग—
का, नियति की वंचना है,
विश्व से सान्निध्य इसका,
विरह है मानव हृदय से।

सुलभ साधन बाह्य जग के,
शेष अन्तर् का न संबल।

भूलता यह जा रहा है
हृदय की झंकार कोमल।

दिग्विजय की कामना ने
है इसे कितना घुमाया,
गोल पृथ्वी है, पुनः यह
लौट आएगा वहीं पर;

और पाएगा कि इति भी
नाम अथ का दूसरा है,
गिरि शिखर से महत् रजकण,
विंदु सागर से महत्तर;

प्रबल नभजयनाद से है
हृदय के उच्छ्वास का बल।
भूलता यह जा रहा है
हृदय की झंकार कोमल।

२४-२-५२

अभिनव का आवाहन : १०

बाँसुरी बदली, अभी
स्वर तो पुराना है तुम्हारा।

श्वास भी बदलो, अधर,
उच्छ्वास भी बदलो, पथिक; स्वर,
कंठ भी बदलो, हृदय
की प्रेरणा बदलो पुरातन।

रूढ़, जड़ विश्वास हैं
जो, कल्पनाएँ, धारणाएँ,
मूल से बदलो उन्हें;
बदलो पुराना रुद्ध चिंतन।

मंदगति जीवन न अब
बहता रहे बन स्वप्नधारा।

बाँसुरी बदली, अभी
स्वर तो पुराना है तुम्हारा।

देखते हो, भूमि भी
अब तो बदलना चाहती है,
उर्वी, नभ, गिरि, ऋतुक्रम,
स्रोतस्विनी, कण-कण जगत् का,

पुष्प, तरु, लतिका; यही
पथ भी तुम्हारा चाहता है;
आज "परिवर्तन" बना
है एक स्वर लघु का, महत् का;

चाहती लहरें कि हम
बदलें दिशा, बदलें किनारा;
बाँसुरी बदली, अभी
स्वर तो पुराना है तुम्हारा।

स्वर उठे ऐसा कि हो
कंपन नया वातावरण में;
नवल वंशी पर नई,
प्राणद, निराली गति बजाओ।

पंथ भी बदलो, चरण
बदलो, नया उत्साह लेकर;
गीत नवयुग को बना
अपना, पथिक, तुम आज गाओ।

साधना का, प्रगति का;
एकांत का स्वर हो सहारा।

बाँसुरी बदली, अभी
स्वर तो पुराना है तुम्हारा।

स्वर उठे ऐसा कि हों
सिंचित जगत् के प्राण जिससे;
भीग जावे स्नेह से
उर मनुजता का; सत्य जागे।

रूप, रस, सुख, शांति से
वंचित रहे जो आज तक हैं,
वे उठें, हों समादृत,
पथ पर प्रगति के बढ़ें आगे।

भूमि स्वागत कर उठे
ले नित्यनव सौंदर्य सारा।
बाँसुरी बदली, अभी
स्वर तो पुराना है तुम्हारा।

२-३-५२

रह गई चढ़ी बरात : २१

(१)

घेंटरा के ठाकुर हैं ।
नाम है कुढ़ेरीसिंह ।
गढ़ी में निवास,
जैसे मोरी में बसें डाँस ।
सैलानी मन वाले,
हाथी-से तन वाले,
सन्नाती जीप कार
लेकर यह बार-बार,
गढ़िया से गाँव और
गाँव से नगर, वन,
घूमते ही रहते हैं ।
ठाट-बाट नौबहार ।
जी चाहे जब, शिकार

करते हैं तीतर का,
मछली का, बत्तख़ का।
लीडर के भाषणपटु
कंठ के समान तेज़,
इनकी बन्दूक़ विकट
दागने को गोलियाँ हैं
रहती तैयार सदा।
काँटा डाल एक दिन
पोखरे के तीर पर
बैठे थे कुढ़ेरीसिंह।
मछली की कर रहे प्रतीक्षा थे।
बगले की भाँति लगी
तटसमाधि।
काँटे में मछली तो आई नहीं,
आ गया दिमाग़ में
सहसा विचार एक—
"खड़े होंगे, खड़े होंगे
हम भी चुनाव में।"
लौटे जागीरदार।
गढ़ी में हुआ प्रचार,
गाँव-गाँव फैला वह,
नगर-नगर पहुँचा वह,
छा गया ज़िले भर में,
घर-घर में;
कंठ-कंठ गूँज उठा—
खड़े होंगे, खड़े होंगे
ठाकुर कुढ़ेरीसिंह।

(२)

बाँटे जा रहे हैं नोट,

मिलें वोट, मिलें वोट।
मोरचे लगाए गए,
मुखिया बुलाए गए।
वक्ता, भजनीक, भाट,
गायिकाएँ, गायकगण,
नेता, स्वयंसेवक, नट,
ठाकुर ने सबको नियुक्त किया।
पेशगी में बाँट दिए
रुपए, दहेज़ में मिले थे जो
लल्लू के ब्याह में,
पिछले ही माह में।
बैंक का बक़ाया भी
साफ़ हुआ बहुतकुछ,
दर्जनों ख़रीदी गईं
शक्तिशाली जीप कार,
लाउडस्पीकर अनेक,
प्रेस, बैंड, रेडियो भी।
जलसों की योजनाएँ।
दूल्हा उम्मीदवार,
मानो, चढ़ते बरात।
मित्रों की बैठकें गढ़ी में हुईं।
दल गढ़ा गया नवीन,
जो स्वतन्त्र सबसे था,
बेनकेल ऊँट बने
नेता ख़ुद कुढ़ेरीसिंह।
झंडा भी पसन्द किया सबसे निराला था।
रंग टोपियों का एक
अपना निकाला था।
धुआँधार, धुआँधार,

हो गया शुरू प्रचार,
जंगल में बोलते हों ज्यों सियार,
जय-जय कुढ़ेरीसिंह,
जय-जय विचित्र दल,
ज़िंदाबाद, ज़िंदाबाद !

(३)

फूँक ज्यों निकल जाय
उड़ते ग़ुब्बारे की,
ठप हो गया प्रचार,
एक दिन, एकदम,
पड़ रहे कुढ़ेरीसिंह
गढ़ी में, चढ़ा बुख़ार।
डाक्टर चौकोरनाथ,
वैद्य मनीराम और
आ गए हकीम अलीगाजरख़ाँ एक-साथ।
कोई बोला—इनको है काला आज़ार हुआ,
किसीने बताया पल्पिटेशन है ज़ोरदार,
आक्रमण विषम ज्वर का घोषित किसीने किया,
कोई कुछ, कोई कुछ करने लगा निदान।
होता उपचार कैसे ?
भिन्न-भिन्न थे विचार।
लाड़ला मुसाहिब था
पास खड़ा प्यारेसिंह।
बोला—रोग इनका निराला,
मैं बताता हूँ।
लड़ना चुनाव चाहते थे जो असम्बली का,
परचा उसीकी नामज़दगी का उस दिन
भरा था इन्होंने,

नाम उसमें जो अपना
लिखा था, यह उसमें
'ढ' के नीचे बिंदी का लगाना
भूल आए थे।
सूक्ष्मदृष्टि अफ़सर ने,
बिंदी की भूल पकड़,
आज जब ख़ारिज किया था वह परचा,
भूली हुई बिंदी बन गोली-सी हुई थी, मानो,
छेदकर ठाकुर के सीने के आर-पार।
यही है बुख़ार और काला आज़ार यही।
बोले सब—हाय, हाय,
बुरा हुआ, बुरा हुआ,
लुट गए कुढ़ेरीसिंह,
रंज यह भारी है,
हत्थे से पतंग कटी,
रह गई चढ़ी बरात!

७-३-५२

अंतर्वसंत : ११

तुम्हारे इंगित का ऋतुराज
नहीं आश्रित तिथि का, क्षण का।

अचानक मंदस्मित सा उतर
पहुँचता है प्राणों के पास,
जगाता है यह आशा नई,
नया उत्साह, नया विश्वास।

बनाती इसकी आहट स्वर्ग
नरक क्षण में इस जीवन का।
तुम्हारे इंगित का ऋतुराज
नहीं आश्रित तिथि का, क्षण का।

चला आता है अपने आप
किसी भी क्षण अंतर्जग में;

क्रांति सा आता है, कर पार,
भले ही बाधा हो मग में;

याचना का यह इच्छुक नहीं,
नहीं अभ्यस्त निमंत्रण का।
तुम्हारे इंगित का ऋतुराज
नहीं आश्रित तिथि का, क्षण का।

हृदय में मेरे होता शिशिर,
विश्व में जब वसंत का साज;
विश्व में जब पतझड़ का राज्य,
हृदय में मेरे तब ऋतुराज;

विषमता का यह कैसा खेल
किसी के गमन, आगमन का?
तुम्हारे इंगित का ऋतुराज
नहीं आश्रित तिथि का, क्षण का।

युगों से परिचित इससे हृदय,
किंतु, यह जान न यह पाया—
कहाँ, कब, कैसे, बनकर अतिथि,
अचानक, यह इंगित आया,

हृदय में मेरे नवल प्रभात
जगाने को नव यौवन का।
तुम्हारे इंगित का ऋतुराज
नहीं आश्रित तिथि का, क्षण का।

९-३-५२

प्रथम पल्लव : १३

शून्य तरु में उग रहा है
प्रथम पल्लव लाल ।

स्वप्न की स्मृति-सा छिपा था
हृदय में तरु के विगत की
हरित आभा के विभव का
सरस सुख—इतिहास,

शिशिर के आघात, अवनति,
हास की संध्या भयानक,
रह गए थे पास इसके
दुःख के उच्छ्वास !

चाहता है हुआ, मानो,
पुनः उन्नत भाल ।

शून्य तरु में उग रहा है
प्रथम पल्लव लाल ।

क्रांति है यह; क्रांति इतनी
सरल, कोमल, क्या किसीने
है कभी देखी जगत् में ?
नवसृजन यह शांत ।

फिर नया जीवन जगेगा,
नवल आशा, नवल आभा;
है महत् रणनाद से यह
मौन, यह एकांत !

यह विजय लघु की, प्रथम की;
यह उदय की ज्वाल !
शून्य तरु में उग रहा है
प्रथम पल्लव लाल ।

एक ही, हाँ, एक ही है,
एक ही है यह अभी तो;
हर प्रथम पहले अकेला,
क्रांति-क्रम अनिवार्य ।

एक से अगणित बनेंगे,
फिर सघन छाया घिरेगी,
विरस तरु होगा सरस, तब
पूर्ण इसका कार्य ।

प्रथम बलि होगा शिशिर का
यही अगले साल ।

शून्य तरु में उग रहा है
प्रथम पल्लव लाल ।

प्रात मधुऋतु का नवागत,
रात पतझड़ की बिताकर,
फूटता है अरुणिमा का
हास और प्रकाश ।

करव को जैसे मिली थी
एक दिवस शकुन्तला, फिर
शिशुरहित जीवन बनाने-
को सुखर, सोल्लास,

आज वैसे वृक्ष को यह
मिला पल्लव बाल ।
शून्य तरु में उग रहा है
प्रथम पल्लव लाल ।

२४-३-५२

रेगिस्तान : १४

"रोको रे, रोको रे,
यह रेगिस्तान, इधर
बढ़ता ही आता है,
चढ़ता ही आता है,
निगलेगा उर्वर भू,
ख़तरा है, ख़तरा है!"
कितने ही कंठों से
आज आ रही हैं ये
आवाज़ें! सुनता हूँ!
मेरा ही स्वागत यह!
मेरे प्रति भय इसमें,
अन्तर् का विष इसमें
व्यक्त घृणा मानव की,
क्रोध भी झलकता है,

सर्वोपरि निष्क्रियता।
मानव की रचना मैं,
सृष्टि हूँ अलसता की,
उसकी निष्क्रियता की।

मेरा इतिहास सुनो।
भू माँ के प्राणों के
स्नेह से वियुक्त हुए,
त्यक्त हुए, त्रस्त हुए,
वंचित, उपेक्षित हुए,
कण जो तपाए गए
युग-युग तक आतप से,
एकाकी, निस्संबल,
मानवता भूल गई,
भूल गया जग जिनको,
युगों तक उपेक्षा की
यातना सहन करके
वे शोषित, बिखरे कण,
वे वंचित, वे तापित,
अंततः उठाकर सिर
एक हुए, विद्रोही।
जीवन-भर जो भीषण
ज्वाला नीरसता की,
वेदना, उपेक्षा की
सह सह कर त्रस्त हुए,
वही आग लेकर अब
ग्रस्त करने को चले
धरती को, जगती को।
शुष्कता के सिंधु हम,

ज्वार तप्त प्राणों के,
पीड़ा की आँधी-से,
उठते हैं, उड़ते है,
बढ़ते हैं, चढ़ते हैं,
क्रम-क्रम से छा जाते।
विद्रोही मिलकर हम
जब क़दम बढ़ाते हैं,
प्रगति पर हमारी तब
कर उठते "त्राहि-त्राहि"
ये मानव पाखंडी,
ये दंभी, ये निष्क्रिय,
ये श्रम से दूर, सृजन-
साधना-विहीन, द्वेष,
घृणा, क्रोध, ईर्ष्या से
भरे हुए. भीत, भ्रांत।
ख़ाली मस्तिष्क लिए
करते चीत्कार मात्र।
सीमित ये, स्वार्थी ये
ले बैठे अपनी ही
जल से संतृप्त, सरस,
शस्यों से श्यामल भू,
उर्वर भू, कोमल भू।
भूल गए, अनतिदूर
एक ओर हम भी थे
प्यासे कण, भूखे कण,
शोषित कण, तापित कण,
पीड़ित कण, वंचित कण,
पात्र थे उपेक्षा के,
स्नेह को तरसते थे,

रस के भिखारी म्लान,
जल के लिए ये प्राण
हाय-हाय करते थे।
धू-धू कर जलती थी
अंतर् में नित्य आग।

सीमा है विस्मृति की !
भूले, सो भूले हो !
सोचा— रजकण नगण्य
पड़े रहेंगे सदैव।
पहले ही यदि यथेष्ट
मानव-श्रम बुद्धियुक्त
मिल जाता हमको भी,
धरती के अंतर् की
गहराई में प्रसुप्त
रसधारा जाग्रत कर
जलधारा प्रेरित कर,
ऊपर ला, सिंचन से
जुड़ जाने देते यदि
हम सबके प्राणों से
वे मानव, जो स्वामी
थे सारे वैभव के,
तो हम भी क्रम-क्रम से
बन जाते हरित, शांत।
विद्रोही बन जाते
नतमस्तक अनुचर से !
पर, अपने वैभव में
भूल गए मानव यह—
सहने की सीमा भी
हो सकती है समाप्त।

जल-जल उपेक्षा-घृणा-
ज्वाला में युग-युग तक
पीड़ित भी, शोषित भी
आपस में मिलजुलकर
कर सकते हैं प्रयाण
करने को प्राप्त, व्याप्त,
वैभव को, सुविधा को,
सौख्य को, सरसता को।

हो जाता जब विलम्ब,
हो जाती व्यर्थ, भीत-
प्राणों की तब पुकार।
"ख़तरा है, ख़तरा है,
रोको रे, रोको रे!"—
सुनता चीत्कार और
हँसकर मैं ज्वाला के
सागर-सा, बढ़ता हूँ,
विरही के प्राणों-सा,
निश्चय के क़दमों से,
उधर, जिधर है समृद्धि,
उधर, जिधर सुविधा है,
रस, सुख, है सजल स्नेह।
नहीं कभी मेरे प्रति
हाथ बढ़ा मानव की
ममता का, सिंचन का,
स्नेह का, अनुग्रह का,
अब उसकी ओर उग्र
लेकर प्रतिशोध-भाव
मेरे पग बढ़ते है।

मैं भी तो वंचित हूँ,
मैं भी तो प्यासा हूँ,
मेरे भी हृदय, प्राण।
लूँगा मैं, जहाँ कहीं
पाऊँगा जीवनरस।
चिल्लाना बंद करो—
'रोको रे, रोको रे,
यह रेगिस्तान, इधर
बढ़ता ही आता है,
चढ़ता ही आता है,
निगलेगा उर्वर भू,
ख़तरा है, ख़तरा।"

१३-४-५२

पर्वत, प्रताप से पृथक्, दूर,
मैं धरती का लघु रजकण हूँ।

उत्थान, पतन का एकांगी
उत्कर्ष नहीं मेरा जीवन;
उठता भी हूँ, गिरता भी हूँ,
संतुलन सहज मेरा दर्शन।

लघु हूँ, पर, मेरे अन्तर् में
है दैन्य नहीं लघु होने का;
पाने का मुझको लोभ नहीं,
है क्षोभ नहीं कुछ खोने का।

भू-माँ का सबसे लघु शिशु हूँ,
अतिशय ममत्व का भाजन हूँ।

पर्वत, प्रपात से पृथक्, दूर,
मैं धरती का लघु रजकण हूँ।

उत्थान देखने का जिनके
मन में अदम्य कौतूहल है,
उन्नत हिमवैभव से मंडित
उनका उद्देश्य हिमाचल है।

वे चढ़ें, पहुँचकर आश्रय लें
पर्वत-प्रदेश के अंचल में,
वंदन, आराधन, श्रद्धा ले
नत हों नगपति के पदतल में।

गिरि विजय-ध्वजा है उन्नति की;
मैं विनत साधना-चितन हूँ।
पर्वत, प्रपात से पृथक्, दूर,
मैं धरती का लघु रजकण हूँ।

महिमामय पतन विमोहक है,
उसमें अद्भुत आकर्षण है।
वैभवशाली के गिरने में
आहत गौरव का गर्जन है।

जो पतन देखना चाहें, वे
सौंदर्यबोध, विस्मय लेकर
जावें प्रपात के दर्शन को,
देखें उसका गिरना सस्वर।

वह पतनिवभव का कोलाहल;
मैं संयम का संगोपन हूँ।

पर्वत, प्रपात से पृथक्, दूर,
मैं धरती का लघु रजकण हूँ।

जब चाहे, तब मुझसे मिल ले
इस जग का लघु से लघु मानव;
सर्वत्र सुलभ सबको मेरी
लघुता का गौरवमय वैभव।

मैं नहीं वेग से उठता हूँ,
मैं नहीं वेग से गिरता हूँ;
मैं नहीं दृष्टि का आकर्षण,
विस्मय से कभी न घिरता हूँ।

मैं शाश्वत, शांत, मनुज-उर को
साधना-स्नेह का सिंचन हूँ।
पर्वत, प्रपात से पृथक्, दूर,
मैं धरती का लघु रजकण हूँ।

११-५-५२

मुक्त नभ चितनविहग अब चाहता है,
दूर छूटा स्वर्णपिंजर का प्रलोभन।

कंठ के वे गान, बंदी कंठ के थे।
प्राण के जो गान थे अवरुद्ध अब तक,
मौनपथ से अब उमड़ना चाहते हैं,
फैलना, गति बन, गगन में मुक्ति-प्रेरक।

क्षितिज को छूकर रहेंगे एक दिन ये
गीत, गति बन, जो निरंतर चल रहे हैं;
स्वप्न वे होंगे कभी पूरे हृदय के
साधना की गोद में जो पल रहे हैं।

अब न वह प्राचीर इसको मान्य क्षण भर,
सहन कर सकता न यह प्राचीन आँगन।

मुक्त नभ चितनविहग अब चाहता है,
दूर छूटा स्वर्णपिंजर का प्रलोभन।

एक-सा जीवन, कि जिसमें गति नहीं थी,
एक-सा जीवन, कि जिसमें था न साहस,
एक-सा जीवन, कि जो क्षण-क्षण परिधि में
था अकेला क्षीण होता रहा बेबस।

अब न वैसा बद्ध जीवन जी सकेगा,
अब न वैसी रुद्ध साँसें ले सकेगा,
रस इसे अब मुक्त नभ का मिल गया है,
रक्त बंधन को न अपना दे सकेगा।

विभवकारा की विवशता अनुकरण के
गान में परिणत कराएगी न क्रंदन।
मुक्त नभ चितनविहग अब चाहता है,
दूर छूटा स्वर्णपिंजर का प्रलोभन।

मुक्ति तो बस मुक्ति है, सीमा न उसकी।
व्योम तो बस व्योम, परिधि न जानता जो।
जो रुके, बंदी बने, वह क्षुद्र जड़ता;
है वही चितन, न बंधन मानता जो।

युग कई बीते तरसते मुक्तिपथ को,
आज उसका है तनिक संधान पाया।
साधना का अमर संबल साथ लेकर
चल निकलने का मधुर क्षण आज आया।

आज क्षमता के अथक प्रत्येक अणु का
उच्चता, स्वच्छंद गति को हो समर्पण।
मुक्त नभ चितनविहग अब चाहता है,
दूर छूटा स्वर्णपिजर का प्रलोभन।

१८-५-५२

श्रमजीवी की मर्मव्यथा : १७

कहते तो हैं सब—भारत का
अब मैं ही भाग्यविधाता हूँ।

राजा, सम्राट हुए कितने,
मैंने सबका देखा शासन,
कितने युग, कितने अधिकारी,
देखे कितने उत्थान, पतन।

पर, मैं ज्यों-का-त्यों सपरिवार
दिनरात कड़ा श्रम करता हूँ-
निज स्वेद और शोणित से घट
निर्मम शोषण का भरता हूँ

अधभूखा, अधनंगा रहकर
जीवन का नरक बिताता हूँ।

कहते तो हैं सब—भारत का
अब मैं ही भाग्यविधाता हूँ।

गत राजा, अधिकारी शोषक
थे, स्पष्ट समझ में आते थे,
जो मुझको सेवक, अपने को
मेरा स्वामी जतलाते थे

अब जो शासक, जो अधिकारी
हैं भूले-भटके आ जाते,
अपने को सेवक और मुझे
अपना स्वामी हैं बतलाते।

फिर भी, मैं अपने को दरिद्र,
सम्पन्न उन्हें क्यों पाता हूँ?
कहते तो हैं सब—भारत का
अब मैं ही भाग्यविधाता हूँ।

"है राज्यकोष में जितना धन,
सब मेरे ही श्रम का फल है,
इस बृहद् राष्ट्र का जो बल है,
वह मेरा ही तो भुजबल है।"—

सुनता तो हूँ ऐसी बातें
मैं मुख से उन नेतागण के,
जिनके हाथों में केन्द्रित हैं
सब सूत्र देश के शासन के;

पर, मैं अभाव के पाशों में
क्यों फिर भी फँसता जाता हूँ?

कहते तो हैं सब—भारत का
अब मैं ही भाग्यविधाता हूँ।

इच्छा होती है, आज्ञा दूँ—
मैं स्वामी हूँ, तुम सेवकगण,
इसलिए, करो तुम भी अपने
स्वामी-जैसा जीवनयापन।

वह स्वामी कैसा मूर्ख कि जो
नंगा-भूखा काटे जीवन,
जिसके सेवक घर भरते हों
लेकर जिसका श्रमसंचित धन?

अब नहीं सहूँगा, उठता हूँ,
विभ्रम का दुर्ग ढहाता हूँ।
कहते तो हैं सब—भारत का
अब मैं ही भाग्यविधाता हूँ।

२५-५-५२

दुर्भिक्ष : १८

उधर, देखो,
उधर उस भूभाग में है
मृत्यु की छाया—सदृश
दुर्भिक्ष भीषण !
बाज़ के पंखों,
नखों की भाँति,
राजमुकुटों, राजदंडों को
किया उद्ध्वस्त जिसने
सम्राटों के,
राजाओं के,
वह मानवता ही आज वहाँ,
अपना सारा इतिहासवंद्य
पुण्यार्जन लेकर साथ,
अन्न, जल के कण न पाकर
तोड़ती है दम तड़पकर !

देखते, सुनते जगत् के
मनुज अगणित,
मौन जिनके कंठ, आँखें शून्य !

आज सस्ता मनुज,
महँगा अन्न,
और सबसे अधिक दुर्लभ हो गए हैं
वही सिक्के,
जो मनुज के श्रमरुधिर से सिक्त
हैं वहाँ संचित,
जहाँ संभव नहीं है
मनुजता का स्वच्छता, स्वच्छंदता से
साँस तक लेना निमिष-भर।

है प्रथम तो अन्न दुर्लभ,
यदि मिले भी, तो कहाँ हैं
दरिद्रों के,
दीन-दलितों, शोषितों के पास सिक्के,
अन्न जिससे वे ख़रीदें ?
और सबसे अधिक दुर्लभ शक्ति !
भूख के मारे, सिसकते,
उठ सकें कंकाल कैसे ?
और उठकर किस दिशा में जायँ ?

एक टुकड़ा वस्त्र का
मिलता नहीं है,
करे नारी जिसे पा लज्जानिवारण।
एक टुकड़ा नहीं रोटी का सुलभ है,
मृत्यु के मुख से बचे शिशु जिसे पाकर।

एक सिक्का, क्षुद्रतम,
पाना असंभव,
वृद्ध जिससे ला सके कुछ
अन्न के कण।
और सबसे करुण,
है दयनीय स्थिति यह,
एक कण भी शक्ति का
बाक़ी नहीं है
उस तरुण की देह में,
जो साधना, श्रम, क्रांति का था
उपकरण दृढ़;
है पड़ा कंकाल
मरणासन्न बन वह !

अन्न जब दुर्लभ हुआ,
तब मृत्यु का भय,
शक्ति के अंतिम कणों तक,
कर उठा प्रेरित इन्हें इस ओर,
खा उठे ये
पेड़ के पत्तों,
विषमयी बूटियों को,
मछलियों, कीड़ों,
बुभुक्षित पशुगणों को।
शक्ति यदि रहती,
बड़ा भय था,
किसी दिन,
तरुण, पागल बन,
क्षुधा की यंत्रणा से,
क्षुधित नारी, वृद्ध, शिशु के अंग तक को

बना लेते भक्ष्य अपना,
दे तिलांजलि मनुजता को।

उधर, देखो,
उधर, उस भूभाग में है
अहर्निश उत्सव,
निमंत्रण, भोज!
चमचमाते पात्र
बढ़िया व्यंजनों से
हैं भरे;
हैं इंगितों पर भृत्य तत्पर!
प्रदर्शनियाँ भर रहीं,
जिनमें चमकतीं
तितलियों-सी रमणियों की साड़ियाँ बहुमूल्य!
चल रहा रंगीनियों का मस्त जीवन,
इस दिशा में,
सब यथावत्,
सब अविचलित!

मनुजता का विहग विस्मित
उभय डैनों में विषमता देख अपने!
सोचता है—
तोड़ डालूँ आज अपने
ये उभय डैने
स्वयं मैं
और मैं फिर से उगाऊँ
नए डैने,
पूर्ण समता, हो अकृत्रिम
स्नेह जिनमें!

ज्योति क्या सचमुच बुझेगी ?
स्नेह क्या कुछ भी नहीं है ?
नष्ट आज सहानुभूति हुई सकल,
क्या मनुज से मनुज का कुछ भी न नाता ?
हृदय सब क्या हो गए पत्थर सदा को ?
बुद्ध, ईसा और गाँधी,
मिट गए आदर्श सबके ?

यह नहीं, यह तो नहीं है !
आज भी आवाज़ धीमी आ रही है,
मनुजता की बोलती है मर्म-युगवाणी—
धैर्य का दीपक बचाओ !
मनुजता के मूल्य नैतिक
फिर करो स्थापित, प्रतिष्ठित !
प्यार की बातें हज़ारों कर चुके हो,
कर्म में भी तो उतारो प्यार अपना ।
नए मूल्यों का नया युग;
है नहीं आस्था इसे अब
कर्मविरहित, शून्य शब्दों पर ज़रा-भी !
चाहता यह है
कि शब्दों में निरंतर
कर्म बोले, प्राण बोलें !

विश्वमानव, तुम जहाँ भी रह रहे हो,
द्रवित हो सहमानवों की वेदना से !
जहाँ भी दुर्भिक्ष हो,
निज कर बढ़ाओ !
उधर देखो,
स्नेह सब सूखा,

बुझे अब जा रहे हैं
उन अभागे मानवों के
प्राणदीपक,
जूझते दुर्भिक्ष से जो !
स्नेह भेजो,
जग उठें फिर म्लान दीपक !
शक्ति उनकी हो चुकी है क्षीण सारी,
सिसकते कंकाल वे दारिद्र्यपीड़ित ।
स्रोत हो तुम शक्ति के अविजेय, अगणित,
शक्ति भेजो,
प्रेरणा भेजो उधर तुम !

तुम श्रमी मानव,
कि जिसकी रोटियाँ हैं
रक्त जिसका,
स्वेद जिसका,
प्राण जिसका;
कठिन-श्रम से जो मिले तुमको,
उसीका
भाग भेजो,
बेझिझक भेजो,
न सोचो—क्षुद्र है यह !
क्षुद्रता वह धन्य है,
ईमानदारी
साँस जिसकी, गंध जिसकी !
उस महत्ता से नहीं आशा जरा भी,
नींव में जिसकी पड़ा है
मनुजता का रक्त शोषित !

मनुजता की एकता का,

सूक्ष्म हो,
पर, सूत्र तो है !
चमकती अंतिम क्षणों के पूर्व
सिसकते मानव-मनों में एक आशा—
प्रेरणा जाग्रत उरों में शीघ्र होगी,
हृदयवाले मनुज भेजेंगे सहारा,
सब दिशाओं से,
क्षुधापीड़ित जनों को;
फिर उठेगी वह मनुजता,
फिर जगेंगे दीप वे, जो
मृत्यु की, दुर्भिक्ष की छाया-तले हैं
क्षीण तिल-तिल-कर हुए जाते निरंतर।

गूँजता विश्वास है यह—
मनुज के जीते मनुज
भूखों मरे, यह
मनुजता होने न देगी !

यदि यही होता रहा, तो
प्रलय, विप्लव, ध्वंस होगा,
मनुजता का नाश भी
होगा उसी में !

पर, न होगा,
यह न होगा !

२०-६-५२

साहित्य प्रकाशन मन्दिर,
हाईकोर्ट रोड,
ग्वालियर.